जैनेन्द्र की कहानियाँ

जैनेन्द्र-साहित्य [१७]

जैनेन्द्र की कहानियाँ

[छठा भाग]

['साधु की हठ', 'कः पन्था', 'चोरी'
और अन्य कहानियाँ]

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टेण्ड,) हैदराबाद द.

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम सस्करण
१९५३

मूल्य
साढ़े तीन रुपए

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज, दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार
द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित

साधु की हठ

चलते-चलते वह साधु एक घर के आगे ठहर गया। वह घर शहर के कोतवाल का है, जो मुसलमान हैं। द्वार पर टाट का परदा पड़ा है।

साधु के लिए यह व्यवसाय और स्थान नया है। उसने सदा दी—"माई, द्वार पर साधु खड़ा है, भीख दे।"

भीतर आँगन में स्वयं कोतवाल कुर्सी पर बैठे हुए हुक्का पी रहे थे। आवाज़ उनके कानों में पड़ी; पर उसका उत्तर देने के स्थान में वे इस फ़कीरी पेशे के बारे में कुछ अप्रिय बातें सोचने में लग गये।

साधु की आवाज़ फिर आई। उन्होंने सोचा, इस तरह बोल-बोल कर थककर खुद चला जायगा और इस निश्चिन्त निश्चय के साथ हुक्के की नैंची, जो इस समय मुँह से विलग हो गई थी, फिर उनके मुँह से आ लगी।

परदा हिलता नहीं है और माई ने कदाचित् सुना नहीं है, मन में यह सोच परदा उठा, साधु घर में प्रविष्ट हुआ, "माई, साधु आता है, भीख दे।"

दारोग़ा इसके लिए तैयार न थे। साधु की आवाज़ को बढ़ती आती हुई सुन वह तनिक व्यस्त और निरस्त हुए। साधु आकर

मकान के दालान के किनारे खड़ा हो गया। उन्होंने देखा, साधु खूब है, पूर्ण युवा है, बड़ा सुन्दर है। बदन कठोर बिलकुल नहीं है, जैसे सर्वदा आराम से कपड़ों में छिपा रहा है। जैसे इस बदन को विलास की आदत हो। सोचा, यह फ़क़ीर नहीं है, चालाक है।... समझा होगा, अन्दर कोई मर्द नहीं है...तभी चला आया...। ज़ोर से बोले, "क्या है ?"

साधु ने कहा, "फ़क़ीर आ गया है, भीख माँगता है।"

दारोग़ा ने कहा, "देखता नहीं किसका घर है ?

मतलब था कि दारोग़ा का घर है जिन्होंने एक-से-एक बदमाश को सीधा कर दिया है।

साधु ने आते ही देख लिया था, कि एक मुसलिम गृह में उसका आना हो गया है; लेकिन जब ऐसा ही हो गया, तो इसमें कोई विशेष अनौचित्य भी उसे नहीं जान पड़ा और वह दारोग़ा की इस या किसी प्रकार की ख्याति से परिचित न था। उसने कहा, "हिंदू उसका है, मुसलमान उसका है। सब उसका है। सब साधु का है। साधु भीख माँगता है।"

दारोग़ा ने देखा—यह शख्स हठी है, दिलेर है, पक्का शरारती दीखता है। कुर्सी से उठ खड़े हुए, एक क़दम आगे बढ़ आये, और बोले, "भीख माँगता है, तो मकान के अन्दर घुस आया ?..."

साधु ने कहा, "अन्दर-बाहर सब उसका है। मकान-बन सब उसका है। साधु परदा नहीं रखता। वह भीख माँगता है।"

दारोग़ा को यह अच्छा नहीं लगता था। साधु की इस हठ-पूर्ण धृष्टता को कैसे बढ़ने दिया जाय ? गर्मी ले आये, बोले, "भीख-वीख यहाँ कुछ नहीं मिलती। समझे ?"

साधु ने जैसे दारोग़ा की उत्कट अनिच्छा और उग्रता न देखते हुए कहा, "भीख दो, सवाब होगा।"

साधु के शब्दों में जैसे चुनौती हो। साधु की मुद्रा जैसे कह

रही हो, आख़िर भीख तुम दोगे ही। तो दारोग़ा की मर्ज़ी जैसे अपने बारे में भी नहीं चलेगी! ज़ोर से कहा, "बदमाश!...बाहर निकल।" और दाहने हाथ से वह बाहर निकलने का मार्ग दिखला दिया और सम्पूर्ण मुद्रा से यह जतला दिया कि ऐसा न करने का परिणाम अच्छा न होगा।

साधु ने, मानो मुस्कराहट को वाणी में घोल कर कहा, "भाई, गुस्सा बुरा होता है। फ़क़ीर को ज़रा भीख डाल दो। उसका भी भला होगा, और तुम्हारा भी।"

लेकिन दारोग़ा की जो मनःस्थिति थी उसमें साधु की प्रकृत ठंडक चिंगारी-सी जाकर लगी, उनका गुस्सा, जो अभी तक धूम्रा-वृत अग्नि की भाँति केवल भभक रहा था, अब भड़क कर ज्वाला-मय हो गया। आगे बढ़ आये और बोले, "भीख लेगा भीख?—ले!" और एक ज़ोर का चपत साधु की कनपटी पर जड़ दिया। "और लेगा?—ले और।" दो एक और लगा दिये।

कौन कहे कि दारोग़ा तब नहीं समझ रहे थे कि वह बदमाश के साथ सिर्फ़ इन्साफ़ का सलूक कर रहे हैं; लेकिन क्रोधोन्मत्त का न्याय क्रोधशून्य के लिए सदा ज़बरदस्त और स्पष्ट अन्याय ही है। मूर्च्छाग्रस्त और प्रमत्त व्यक्ति के लिए, इसलिए दया और क्षमा ही प्रकृत न्याय है।

दारोग़ा की धर्म-पत्नी चिक के पीछे से यह देख रही थीं और उन्हें पति का यह कार्य बड़ा बुरा लग रहा था। साधु की तरफ़ उन का मन खिंचा था या न खिंचा था; किन्तु पति के दुर्व्यवहार पर यह एक दम साधु का पक्ष लेने को इतनी उद्यत और विवश हो गई कि मुसलिम गृहस्थी में पत्नी की पाबन्दियाँ कहाँ तक हैं इसका ध्यान, पीढ़ियों से पड़ी हुई अपनी आदत के विपरीत, शिथिल हो गया। भीतर से ही उन्होंने कहा, "हें-हें! उसे मारते क्यों हो? भूल हो गई बेचारे से, जाने दो।"

लेकिन क्रोध का तर्क और है। वह तर्क अतर्क्य है। जिसे बद-माश मान लिया गया, उसे 'बेचारा' कहना उस क्रोध को और क्रुद्ध करना नहीं तो और क्या है ? उसी तरह कोप-पात्र को सहानुभूति देना, आग के शिकार में और घी डालना है। बोले, "तुझ से कौन पूछता है, बदज़ात ?—और साधु पर कुछ थप्पड़ और दुहत्थड़ जहाँ पड़े, जमा दिये और उसे धकियाते हुए द्वार की राह दिखाने का प्रयत्न किया।"

किन्तु साधु ने बाहर चले जाने की आतुरता नहीं प्रदर्शित की और न प्रहारों के प्रति कुछ असहनीयता।

इससे दारोग़ा का गुस्सा एक साथ ही कुण्ठित हुआ और तीखा हो गया।

इसी बीच, ढिठाई देखो, वह महिला अन्तःपुर की परिधि और पाबन्दी तोड़ बाहर आ गईं। क्रोधासुर दारोग़ा के हाथों को वज्र-शक्ति प्रदान कर उनके प्रहार-द्वारा साधु की शान्ति और साधु के मुख को चूर कर देने को ही था कि महिला ने दारोग़ा के हाथों को पकड़ लिया। इस तरह उनकी उन्नति और उनकी इच्छा में यह आकस्मिक और अवैध व्यवधान पड़ गया।

महिला कह रही थीं, "छिः ! छिः ! यह न करो। बहुत मार लिया। अब यह चला जायगा।...जा, भाई जा,...अरे, जा न। ...छोड़ो-छोड़ो, क्या इसपर हाथ छोड़ते हो ? ये इसके लायक भी तो नहीं, नाचीज़।...आओ, आओ।...जा रे, हट, भाग जा...।"

लेकिन यह सब कह न पाने का अवकाश उन्हें नहीं दिया गया। क्रोध के पूर्ण स्वराज्य में बातें करने, सुनने-समझने की इतनी फ़ुर्सत नहीं रहती। उन्होंने एक झटके से हाथ छुड़ाया, उस हाथ से महिला के केशों को पकड़ा और पैरों को प्रहार करने के लिए स्वतन्त्र कर दिया। साथ ही मुख से वह अनर्गल और अश्लील वाक्-प्रवाह जारी किया, जिसका परिचय पाने की आपको इच्छा नहीं होगी

और मुझे भी साहस नहीं है। किन्तु उससे यह बहुत अंश तक सिद्ध होता था कि पत्नी के ऊपर जो सम्पूर्ण स्वत्वाधिकार धर्म और कानून की सहायता से उन्होंने पाया है, उसको वह अक्षुण्ण बनाये रक्खेंगे, चाहे ऐसी-ऐसी दस जूतियों को बदलना और फेंकना क्यों न पड़े, और चाहे उन्हें खुद ही क्यों न मरना पड़े, और यदि वह अपनी वफ़ादारी सम्पूर्ण, सुरक्षित और उन दारोग़ा की भक्ति में सर्वतः संचित नहीं रक्खेगी, तो उसकी बोटी-बोटी का पता न चलेगा और साधु के प्रति उस कम्बख्त के जो भाव हैं, उन्हें वह खूब जानते हैं और सदा याद रक्खेंगे और उनका मज़ा और परिणाम वह उचित रूप में उस कम्बख्त को देते रहेंगे।

मार ज़बरदस्त पड़ी। साधु अविचल खड़ा देख रहा था कि जो मार कदाचित् भाग्य ने उसके लिए भेजी थी, जो उसके हिस्से की थी, यह महिला बीच ही में अन्तःपुर से आकर उसे अपने ऊपर ले लेती है। मानो यह भी उस विपद्-हरण संकट-मोचन परमेश्वर के अनुरूप है, जिन्होंने जगत् को ज़हर से बचाने के लिए उसे कण्ठ में धारण कर लिया। उस माँ के प्रति साधु के हृदय में दया क्या उठती, भक्ति उठी। वह बिना हिले-डुले, निष्काम, क्रोध के पंजे में आबद्ध अवश कोमलता के इस दृश्य को देखता रहा।

किन्तु महिला को इसकी चिन्ता थी। उन्हें खटका था कि कहीं पति फिर साधु की ओर मुड़ पड़ें और उस बेचारे को ख्वामख्वाह और न मारें; इसलिए पिटते-पिटते कई बार उन्होंने सख्त शब्दों में साधु से भाग जाने का अनुरोध किया।

साधु इस पर तुरन्त न चला गया। हाँ, इन अनुरोधों का परिणाम यह अवश्य हुआ कि पतिदेव के कोपानल को और-और आहुति मिली और महिला पर और-और तीखी मार पड़ी। अन्त में महिला ने चिल्लाकर कहा, "और कितना पिटवाएगा, मरवा ही डालेगा क्या, कम्बख्त ? चला क्यों नहीं जाता, जो मैं बच जाऊँ।"

साधु तब लौट चला।

लेकिन शायद क्रोध का पेट अभी पूरा न भरा न था। साधु के मुड़ते ही पत्नी को छोड़, दारोग़ा उधर बढ़े और पकड़ कर लातों और घूँसों से साधु की खूब मरम्मत करने लगे। उसके कपड़े फट गये। जगह-जगह नील उभर आये। नाक से लहू आ चला।

अन्त में साधुओं के सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त उपयोगी उद्गारों की उद्घोषणा के साथ और विभिन्न भाँति की कर-पद-प्रहार-पूजा के साथ साधु को द्वार-बाहर कर दिया गया।

: २ :

उसने फिर भीख नहीं ली। सीधा अपने स्थान पर आ गया।

शहर के बाहर एक देवालय था। वहाँ कुआँ था और निकट ही एक तिदरी-सी बनी थी। न-जाने कहाँ से आकर आज उसने बसेरा डाला था।

हाथ-मुँह धोकर, लहू से अपने को स्वच्छ किया। कपड़े पर जहाँ लहू के दाग़ थे, उन्हें धो डाला और अपने संक्षिप्त सामान में से सुई-धागा निकाल फटे वस्त्रों को सी लिया। ये आवश्यक कार्य करने के बाद वह अपने कुशासन पर आ बैठा।

यह आज क्या हो गया? क्यों हो गया? क्यों उस व्यक्ति को क्रोध की प्रेरणा प्राप्त हुई? कहाँ से प्राप्त हुई? मुझे देखकर क्यों उसमें क्रोध ही उकसा? मुझे देखकर क्यों नहीं उसमें कोई कोमल भावनाएँ जागीं?...मेरे व्यक्तित्व ने उसमें क्रोध सुलगाया, क्रोध भड़काया?...आह, मुझ में से शान्ति की स्फूर्ति उसे क्यों नहीं मिली?...कैसे हो कि मुझ से प्रत्येक शान्ति ही पाये, आनन्द ही अनुभव करे? अपने में से क्या काट फेकूँ कि ओछे भाव मुझे कारण बना कर दूसरों में जागृत ही न हो सकें? मैं कब ऐसा बनूँगा? क्या ऐसा बन सकूँगा?...आह, अपने इस हीन

व्यक्तित्व को कहाँ ले जाऊँ, जिसे समक्ष पाकर लोगों को गुस्सा उठता है ? क्या करूँ ? ओह भगवन्, क्या करूँ ?...

बैठे-बैठे साधु की आखें मिच गईं, और उनमें से आँसू आ ढरके।

...ओह प्रभु, क्या मैंने नहीं चाहा कि वह सब-कुछ मुझ में से मिट जाय, जो तेरा नहीं है ? क्या अपने को तुझे सौंप-कर तुझ से नहीं प्रार्थना की, कि मुझ में, मेरे रोम-रोम में, मेरे अणु-अणु में, तू ऐसा रम बैठ कि किसी और भाव को कहीं स्थान ही न रहे ? तू मुझे अपना स्वीकार कर ले। क्या मैंने तुझे रोकर अपनी आत्मा के अर्ध्य की अंजलि को तेरी स्वीकृति के समक्ष लिये बैठकर, तुझे सौ-सौ बार, हर-हर बार, विश्वास नहीं दिलाया कि समिधा की भाँति यज्ञ के हुताशन में भस्म होकर भी मैं तुझ में ही पहुँचना चाहता हूँ ? ओह, मैं क्या करूँ, बता ? तू ही आश्रय है। तुझसे ही प्रार्थना करना मैं जानता हूँ। सब-कुछ खोकर मैंने बड़े यत्न से यह प्रार्थना सीखी है। अब तो मेरे लिए तेरी यह प्रार्थना ही सब-कुछ है। यही प्रेम है, यही श्रेय है, यही ज्ञान है। यही मेरी साधना है, और यही मेरी साधना का साध्य है। प्रभु, भगवन्, मैं ऐसा नहीं रहना चाहता। मैं बिलकुल तेरा हो रहना चाहता हूँ। मेरे रोम-रोम से हरेक तुझे ही प्राप्त करे, तेरी ही स्फूर्ति पाये; किसी को मुझ से क्रोध की प्रेरणा न मिल सके। मेरी यह प्रार्थना क्या तू नहीं सुनता, मेरे मालिक ? मेरे व्यक्तित्व को चीर-चीर करके, कतर-कतर करके, वह अंश देख ले और मुझे दिखला दे, जो तेरे अनुकूल अभी नहीं हो पाया है। मैं उसे दण्डित करूँगा, अनुशासित करूँगा। आज्ञा दे, मैं उसे भस्म कर दूँगा।... मैं शपथ करता हूँ, मैं तेरे समीप स्वीकृत होकर रहूँगा, तेरे दर्शन करके ही छोड़ूँगा, सम्पूर्ण रूप से मुझे अपना बना लिये बगैर मैं तुझे छुट्टी नहीं लेने दूँगा।....मुझे

आज्ञा दे, मैं सब-कुछ छोड़ दूँगा। तेरी राह में क्या मैंने सम्पदा नहीं छोड़ी? स्त्री नहीं छोड़ी? पुत्र-कलत्र नहीं छोड़े? घर-बार सब-कुछ नहीं छोड़ा? सब जिसके लिए छोड़ा, उसे नहीं छोड़ूँगा और तू भी मुझे नहीं छोड़ सकेगा। बस कह भर दे, बता भर दे कि तेरे सिवा अभी कुछ और भी मेरे साथ लगा है। सच मान, मैं उसे छोड़ने में देर नहीं लगाऊँगा। फिर क्या मैं समझता नहीं कि जिसे मैं छोड़ना कहता हूँ वह छोड़ना नहीं, पाना है।...क्यों मैंने कुछ छोड़ा? धन क्यों छोड़ा? क्या इसीलिए नहीं कि जब मैं उसे अपना समझता था, तब और भी अपना समझना और बना लेना चाहते थे और इस तरह मुझ में लोभ, दर्प और दम्भ पैदा होते थे। और औरों में लालच, चोरी, झूठ और छल पैदा होते थे। उससे लोगों में तेरी नहीं, तुझ से विमुख प्रवृत्ति होती थी। तुझ से हट कर मेरी उस पर आँख रहती थी, और तेरे पुत्रों और अपने भाइयों को विशुद्ध प्रेम से मैं नहीं देख सकता था;—या सन्देह और भय से उन्हें देखता था, या कृपा और अनुग्रह के साथ। औरों की आँख तुझ से विमुख होकर उस पर गड़ी रहती थी; और वे मुझे अपने भाई को या तो भय, आशङ्का और खुशामद से, नहीं तो द्वेष, ईर्ष्या और प्रवंचकता से ही देख सकते थे। उस अवस्था में उससे और मुझ से, मुझे और औरों को भी पाप की प्रेरणा मिलती थी। स्त्री क्यों छोड़ी, और सब-कुछ क्यों छोड़ा? क्या इसीलिए नहीं कि मैं अशुभ प्रवृत्तियों और उद्वेगों का कारण और केन्द्र होने से बच जाऊँ? कुछ से अपनेपन का मोहमिश्रित प्यार और शेष से द्वेष करने की लाचारी से छूट जाऊँ? अशेषतः तुझ में हो जाऊँ? लेकिन मालिक मेरे, आज यह क्या होता है? सब-कुछ छोड़ बैठा हूँ, फिर भी पहले घर में जिसमें भीख माँगने पहुँचता हूँ, द्वेष, क्रोध और कलह मचने का कारण बनता हूँ। वह छोड़ना पर्याप्त नहीं; शायद उस तरह का छोड़ना ज़रूरी भी

न हो; लेकिन बता क्या करूँ ? तेरे बताने के ही आसरे हूँ, तुझे छोड़ और कहाँ जाऊँगा ?...उस गन्दगी को, उस माया को, उस मोह को और अविद्या को उँगली रखकर बतला दे, जो मुझ में छिपी बैठी है। जहाँ तेरा प्रकाश अभी नहीं फैला है। जहाँ अँधेरा है।...मैं क्या करूँ, जिससे वह व्यक्ति उस क्रोध के परिणाम से धुल जाय, जो मेरे कारण उसमें पैदा हुआ है ? उस बेचारे का अपराध नहीं। त्रुटि मुझ में ही है, जिससे वह अपराध उससे सम्भव हुआ। उसे पश्चात्ताप होगा, उसे क्षोभ होगा, उसे ख्याल होगा कि उसने व्यर्थ अपनी पत्नी को पीटा—उसकी आत्मा पर एक भारी बोझ-सा रहेगा। वह बोझ उस पर क्यों रहे ? क्या करूँ कि उसकी आत्मा पर से यह बोझ उठ जाय; क्यों मैंने ही वह बोझ वहाँ रखा है। अपनी त्रुटि के परिणाम को मिटा देना होगा; उसकी आत्मा को आत्म-पीड़न और आत्म-त्रास के भार से हल्का कर देना होगा, पर मालिक मेरे, बता उसके लिए क्या करना होगा ?...मैं तुझसे ही पूछूँगा।...मैं तुझ से सब-कुछ पूछूँगा। तू सब-कुछ करता है और सब अच्छा करता है। यह तो ठीक है कि मैं पीटा गया। जिस गुस्से को मैंने जगाया, वह मुझे झेलना और मुझ पर ही फूटना चाहिए था। अगर मैं गुस्सा पैदा कर सकता हूँ, उस गुस्से की मार भी ज़रूर मुझ पर पड़नी चाहिए; लेकिन उस माता को क्यों तू पिटने दे सका ? क्या मैं भूलूँ उस दृश्य को ? हृदय की सहानुभूति उसका अपराध था; किन्तु यह औरों के सुख-दुखों को अपना अनुभव करने की क्षमता की एक सम्पदा ही तो तूने मानवी हृदय को दी है, वही उस माता के लिए विपदा बन गई !...यह क्या हुआ ? यह क्यों हुआ ? मैं भूले नहीं भूलूँगा—उस माँ की वह मूर्ति, जब मार खाते-खाते भी मुझे ही बचाने की सोच रही थीं। कठिन उपसर्ग में भी जो तेरे मार्ग पर अड़ी रहीं। जिन्होंने तेरी सम्पदा की रक्षा की। जिन्होंने उसे क्रोध

के हाथों हारने और छिनने नहीं दिया...ओह, क्रोध के प्रहार मेरी माँ पर क्यों हुए ? उस सबका दोषी क्या मैं ही नहीं हूँ ? क्योंकि उस क्रोध की जड़ मेरी त्रुटि में है।...हाँ, मैं ही उसका दोषी हूँ।... ओह, मालिक, कैसा अवहनीय यह मेरा दोष है ? इससे, भीतर अपने ऊपर बड़ी ग्लानि उपजती है। प्रभु, इससे कैसे मेरा उद्धार होगा ?—ओह, अब मैं समझा। तेरी दया अपरम्पार है। तूने माँ को इसीलिए बीच में भेजा कि मैं देख लूँ कि मेरी त्रुटि कितनी भीषण है और वह कैसे अत्याचार को जन्म दे सकती है। ओह ! मैं यह साफ़ देखता हूँ। मैं सह नहीं सकता। मेरे भीतर बैठा वह राक्षस यों दूसरों के हाथों दुष्कृत्य बनकर स्पष्ट अपनी पूरी भीषणता में मेरे सामने आ खड़ा हुआ है। ओह, मुझसे देखा नहीं जाता, झेला नहीं जाता। मेरा इससे उद्धार कर, त्राण दे। इसको मुझ में से उखाड़ फेंक। ओह, मालिक, मैं इसे अब छोटा समझने की भूल नहीं करूँगा। माँ के रूप में जो अपनी त्रुटि के उत्तरदायित्व के भारीपन की दीक्षा आग के और आँसू के अक्षरों में तूने मेरे भीतर खींच दी है, उसे भुलाऊँगा नहीं।...ओह, मेरी रक्षा कर। सम्पूर्णतः अपना बना ले। तेरा प्रतिरूप, तू ही होकर मैं वहाँ विचरूँ। बस एक धब्बा रहूँ जो कि तेरी शुद्धता से शुद्ध हो, जो स्वयं कुछ भी न हो, शून्य हो; जो बस तुझे चीन्हने के लिए चिन्ह हो, याद करने के लिए आधार हो। मैं वह रहूँ जो सदा तेरी याद दिलाये, तुझे प्रकाशित करे, तुझे प्रतिष्ठित करे, तुझे सम्पन्न करे, तुझसे जो अभिन्न होकर रहे···

: ३ :

जब अगले रोज़ वह साधु फिर ठीक उसी वक्त, द्वार पर दो-तीन सदा देने के बाद, भीख माँगने अन्दर चला आया, तो उन महिला को बड़ा अचरज हुआ। आशंका भी हुई। वह नियमित

रूप में अन्तःपुर में थीं। साधु का यों जान-बूझकर विपद में भीतर घुस आना, उनकी समझ में न आया। वह बाहर दालान में आ गईं और बोलीं—"बाबा, तू यहाँ फिर क्यों आफत उठाने चला आया? कल क्या कम मार पड़ी थी? या मुझ पर जो मार पड़ी, उसे कम समझता है?"

साधु ने कहा, "मैं अब यह घर छोड़कर और कहीं से कैसे भीख ले सकता हूँ, माई। आज क्या, कल क्या, आता ही रहूँगा। किसी को नाराज़ करके और नाराज़ छोड़कर जाऊँगा, तो अपने मालिक को कैसे मुँह दिखाऊँगा? जिनकी क्रोध की मार खाई, उन्हीं के छिपे प्रेम के टुकड़े खाऊँगा। इसके पहले मेरा सन्तोष कैसे होगा?—वह कहाँ गये हैं?..."

साधु की यह बात तो पूरी तरह समझ में नहीं आई; लेकिन जैसे जी को छू गई। मस्तिष्क के विवेचन में तो वह आती भी कैसे? लेकिन नारी-हृदय की वीणा के एक तार को साधु के शब्द की ध्वनि के संगीत ने जाकर एक मृदु आघात दिया और वहाँ से आर्द्रता की एक लहर उपस्थित होकर काँपती हुई महिला की समग्र आत्मा में और वहाँ से फिर सारे वात-वलय में फैल गई।

महिला ने कहा, "काम से गये हैं। आध-पौन घंटे में आते होंगे; लेकिन तुम क्यों चले आये? मेरी बात मानो, जल्दी चले जाओ। मुझे अपनी फ़िक्र नहीं, लेकिन तुम नाहक़ क्यों मुश्किल में पड़ते हो? उनकी आदत तुम जानते नहीं। बड़े शक्की हैं। वैसे बड़े अच्छे हैं, पर शक बड़ी जल्दी कर लेते हैं। ऐसी हालत में फिर आपा भूल जाते हैं, और न जाने वह क्या-क्या कर बैठते हैं। मैं कहती हूँ, भई, तुम चले जाओ। मुझे बड़ा खुटका लगा है। कल की ही बात पर मेरा जी बड़ा दुख रहा है। देखो, मैं तुम से कहती हूँ कि तुम मेरी तरफ़ देखकर उन्हें माफ़ कर देना। उन पर नहीं तो मुझ पर तरस खाकर उन्हें माफ़ कर देना। जो हो

गया, उसे याद मत रखना और उनकी तरफ़ से कुछ बुराई मन में मत लाना। वह क्या करें, आदत से लाचार हैं। वह न जाने कभी-कभी किस के बस में हो जाते हैं, सो यह सोचकर कल की बात मन में न बिठाना। और देखो, अब तुम चले जाओ। वह आकर तुम्हें देखेंगे, तो गुस्सा हो सकते हैं। वह ऐसे ही हैं। सो, तुम मुझ पर मेहरबानी करके चले जाओ।"

साधु ने कहा, "मैं बाहर दरवाज़े पर बैठता हूँ। आध घण्टे में वह आयेंगे न? मैं घण्टे भर तक बैठ सकता हूँ। उनके हाथ के मुहब्बत के टुकड़े पाकर ही मैं मानूँगा।"

साधु मुड़ने को हुआ। महिला ने रोकते हुए कहा, "बाहर बैठोगे? बाहर क्यों बैठोगे? नहीं, चले जाओ, यहाँ मत रहो। तुम मुझ पर तरस नहीं कर सकते? मुझ पर तरस खाकर मेरी यह बात नहीं मान सकते? ऐसी तुम्हें क्या ज़िद है? मेरे घर में जो खाने को है, मैं सब तुम्हें देती हूँ फिर तुम यहाँ ठहरोगे किस वास्ते? रहम करो, हाथ जोड़ती हूँ; चले जाओ।"

साधु ने कहा, "चला तो जाऊँगा ही, लेकिन एक घण्टा ठहर सकता हूँ। और तुम्हारा दिया लेने से तो मेरा जी मानेगा नहीं। मुझे तो वह देंगे और प्यार से देंगे। वही दें, इसका मुझे बड़ा लालच है। क्योंकि कल की बात को मैं भूल जाऊँ, मेरे लिए यही काफ़ी नहीं है; वह भी भूल जायँ, इसका भी इन्तज़ाम मुझे ही करना है; क्योंकि कसूर दरअसल मेरा था।"

महिला ने देखा, साधु का तर्क और साधु का इरादा साधारण नहीं है। लेकिन पति की ओर से उनके जी में खटका खटक ही रहा है। बोली, "मैं तुम्हें अब कैसे समझा कर कहूँ? यह मैं तुम्हारे लिए नहीं, अपने लिए कह रही हूँ। अपने लिए इसलिए कह रही हूँ कि जिससे उन्हें फिर ऐसा गुनाह करने का मौका न मिले। तुम्हें देखकर वह अपने बस में न रहे और कुछ कर बैठे,

तो इससे तुम्हें क्या फ़ायदा होगा, और उन पर पाप चढ़ेगा। मैं इसी से कहती हूँ, खुदा के लिए तुम चले जाओ।"

साधु ने कहा, "अगर खुदा मुझ से अभी तक नाराज़ हैं, अभी तक नापाक हूँ, तभी ऐसा होगा कि मेरी वजह से किसी से बेजा काम हो सके। और तब ऐसा होना ठीक भी है; क्योंकि तब मुझे खुदा की इबादत की ज़रूरत का एक सबूत और मिलेगा।"

महिला ने कहा, "अगर तुम मेरी बात नहीं मान सकते, मेरी भीख भी नहीं ले सकते, तो मैं कहती हूँ कि तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं है। और मेरी दरख्वास्त नहीं मानते, तो मुझे घर की मालिकन की हैसियत से कहना पड़ता है कि तुम यहाँ से चले जाओ।"

महिला ने यह क्यों कहा ?

साधु को चलना था ही, चलने लगा। लेकिन महिला ने रोककर कहा, "जाते कहाँ हो जी ? कौन कहता है तुम्हें जाने को ? ठहरो, मुझे एक काम है तुम से, जाना मत, मैं अभी आई। कहकर वह अन्दर चली गई। साधु रुककर स्थिर खड़ा रहा। इतने में एक दरी लेकर वह आई, उसे बिछा दिया, कहा, "ठहरोगे ही, तो ठहरो; और आराम से यहाँ बैठो। बाहर क्यों बैठोगे ? वह आयेंगे और देखेंगे ही तो देखें। लेकिन बाहर दरवाज़े पर बैठने का क्या मतलब है ? मैं उनसे कह दूँगी कि मैंने ही बैठाया है। कुछ हर्ज़ है बैठाने में ?"

लेकिन साधु खड़ा ही रहा। महिला ने कहा, "बैठो। बैठते क्यों नहीं ? पसो-पेश मत करो। यह बदकिस्मती है कि तुम कुछ खाओगे नहीं। मेरी बात तुमने कुछ नहीं मानी। मैंने चले जाने की दरख्वास्त की, तुमने ठहरने ही का फैसला रखा। भीख के लिए आये; मैं कुछ देती हूँ, तो इन्कार करते हो। अब तुम्हारे

ठहरने की राज़ी में राज़ी होकर यहाँ बैठने को कहती हूँ। बैठो-बैठो यों खड़े न रहो।"

साधु ने कहा, "दिक़्क़त उठाने से पहले मुझ से पूछ क्यों न लिया? मैं यहाँ कैसे बैठ सकता हूँ? मुझे तो दरवाज़े पर ही बैठना होगा।"

और यह कहकर वह दरवाज़े की ओर मुड़ लिया।

महिला अपनी आशा में इतनी निराश हुईं कि बोल नहीं सूझा, देखती रहीं। साधु बाहर हो गया कि वह लौट आईं और कार्य में व्यस्त होने की चेष्टा करने लगीं।

कई बार दरवाज़े पर दिखवाया। साधु प्रकृतिस्थ प्रतीक्षा में बैठा था। और वह किसी-न-किसी काम में लगे रहने की चेष्टा कर रही थीं; लेकिन दारोग़ा आये नहीं। अब तो घण्टा भर होने आया। उन्हें क्या हुआ, क्यों नहीं आये? साधु को बड़ी दिक़्क़त हुई।

पाँच मिनट पहले ही नौकर साधु के यथावत् बैठा होने की ख़बर देकर गया था कि फिर से देखने भेजा गया। लेकिन अब वहाँ साधु न था। नौकर ने यह सूचना उन्हें लाकर दे दी। वह 'अच्छा' कहकर नौकर को विदा दे, हाथ का काम छोड़ कमरे में तनिक तीव्र गति से टहलने लग गईं।

: ४ :

दारोग़ा जल्दी क्यों नहीं लौट सके, इसका ठीक कारण बतलाना कठिन है। लेकिन घर जाने को जल्दी जी नहीं होता। जैसे घर में पत्नी का मुक़ाबिला होगा, सो कैसे होगा, मन का यह सोच उन्हें घर से दूर ही रहने को कहता है। क्रोध का नशा जब से उतरा, तब से तबीयत गिरी-सी रहती है। मन कुछ ख़ाली-ख़ाली-सा लगता है, और वह सीधा होकर नहीं बैठ सकता, ठीक तौर

पर किसी काम में नहीं लगता। जैसे भीतर से कुछ सुख नहीं मिल रहा हो, और मन जैसे सुख के अभाव, भीतर के इस अभावमय शून्य (void) के चारों ओर ही मँडरा रहा हो। उसे व्यस्त रखना कठिन है, और वह व्यस्तता चाहता है। व्यस्तता ढूँढने में और कुछ नहीं, तो वह ऐसे बहाने पा और बना लेना चाहता है कि जिनके कारण फिर नशा चढ़ जाय। यह हालत होती है, जहाँ नशेबाज को फिर नशे की हिरस सताती है। गिरी तबीयत का सामना उससे नहीं किया जा सकता और फिर पहले की नशे की हालत के आमन्त्रण और आकर्षण में वह आँख मींच कर बह पड़ने को तैयार हो जाता है। दारोगा मानो अपने क्रोध के कारण ढूँढ रहे हैं। अपने को बहलाने को मन यह काम निकाल लेता है; क्योंकि क्रोध अन्तर में जो एक गहरा रिक्त छोड़ गया है, उसमें झाँकने में दर्द और डर होता है, और झाँक कर कुछ हाथ नहीं आता। यह भी नहीं हो सकता कि इस रिक्त के सम्बन्ध में चिन्तित न हों; क्योंकि कहीं रिक्त क़ायम रहने देने की छूट प्रकृति ने अपने नियम में नहीं रखी है। यह काम यत्नपूर्वक, जान-बूझकर करने की उनमें क्षमता नहीं है। इससे सस्ते नशे में फँसकर इस खालीपन के भाव (Consciousness) से त्राण पाने की ओर स्वभावतः उनकी वृत्ति हुई है। उन्हें अपने बचाव करने की आवश्यकता होती है; क्योंकि एक तरह का असन्तोष उन्हें अपने आपको दोषी मनवाना चाहता है। वह इसके विरोध में तर्क ढूँढते हैं, और इस निश्चय पर आ जाना चाहते हैं, कि जो किया उसमें कोई हर्ज़ नहीं है। जो असन्तोष भीतर से रोष बनता हुआ-सा उठता है, उसकी चोट आप ही अपने ऊपर नहीं लगने देना चाहते, बुद्धि के ज़ोर से उसे मोड़कर साधु और अपनी पत्नी के ऊपर ढाल देना चाहते हैं। इसमें कुछ कृत-कार्य होते हैं, कुछ असफल होते हैं, और इस द्वन्द्वावस्था से तङ्ग होते हैं। जैसे दो ओर से

उनका चित्त ऐसा खिंच रहा है कि बस 'त्राहि' पुकार रहा हो।

कुछ काम से घर छोड़कर अगर आये भी थे, तो उन्हें उसका ध्यान न था। तब से ही जब से साधु घर से टला, और क्रोध का जो ज्वार आया था, वह उतरने को लाचार हो गया, और पत्नी उन्हें अपने से निबटने को स्वतन्त्र छोड़ अपने कमरे में आकर पलंग पर पड़ गईं—तब से ही कुछ काम पाकर इस घर से निकल जाने की उन्हें जल्दी थी। तब से ही वह बाजार में कभी इससे मिल और उससे बोल, कभी यह कर और कभी वह कर, इस तरह, बिना क्रम और पद्धति के घर के बाहर समय काटने में लग गये थे। चुपचाप शाम का खाना खाकर, अपने को फुर्सत न देने के ख्याल से फिर यार-दोस्तों में पहुँच गये थे। अत्यन्त उच्छृङ्खल आनन्द में अपने को वह वहाँ भुलाये रहे थे। बहुत रात बीते ऐसी हालत में घर पहुँचे थे, जिससे नींद आ जाने में देर न लगे और इधर-उधर की बातों को तंग करने का अवकाश न मिले। आखिर अगला दिन जब आ ही गया और नींद, जो बहुत देर में उन्होंने तोड़ी, टूट ही गई और घर में किये जाने वाले नित्य-नैमित्तिक कर्म भी समाप्त हो ही गये, तब फिर घर से बाहर निकल गये। कह गये, जल्दी ही लौटूँगा; लेकिन बाहर जाकर जल्दी लौटने की चाह न रही, चाह तो कहते वक्त भी न थी।

पत्नी ने भी इस सम्बन्ध में धोखा न खाया। पहले तो उन्हें आशा थी कि पति को अपने कृत्य पर अताप होगा और वह शाँति और क्षमा की याचना करने उनके पास आएँगे। यह आशा बिलकुल न होती, तो वह सीधी जाकर पलंग पर न पड़ सकतीं; किन्तु यह आशा जिसमें रस था, जो फूल की तरह आँसू, या ओस के एक कण का अभिषेक पाने के लिए, उद्यत-मुख, मुकुलित आकाँक्षा मन में दुबकाये, अपने सौभाग्य-चुम्बन की प्रतीक्षा में यों चुपचाप एक ओर आकर बैठ गई थी,—वह आशा अतृप्त रह

कर कुण्ठित हो गई। मस-पन्द्रह मिनट हो गये, तो पत्नी समझ गई, अब वह न आएँगे और अकेले भी न रहेंगे, वह अब यार-दोस्तों में पहुँचेंगे। वह उस आशा के शव को मन में लेकर काम में लग गई। उन्हें सन्देह नहीं रहा कि जब तक बादल कोई टक्कर पाकर पानी बनकर बरसेगा नहीं, तब तक पति उसे दोस्तों की चुहल और कामों की व्यस्तता में ही उड़ा देना चाहेंगे। अनुताप, जो पति को खींच कर उनके चरणों में ला सकता था,—जब उनके पैर ओठों से चूमे जाते आँसुओं से धोये जाते और वह प्रेम की सिसक में पानी बन कर बह जाता,—उस अनुताप से अब और ही राह से छुट्टी पाने की कोशिश की जा रही है, उसे आमोद में उड़ाया जायगा और शराब में बहाया जायगा। यह सोचती थीं और मन में कड़वाहट फैलती थी। वह अपने काम में लगी रहीं, जैसे पति की ओर से बिलकुल उदासीन हों। उनको छेड़ने या उनको मोड़ने की उन्होंने चेष्टा नहीं की, जैसे उस प्रकार की उन्हें चिन्ता या इच्छा नहीं है। चाहो तो और मार सकते हो; लेकिन मुझे तुमसे कुछ मतलब नहीं—इस भाव से वह हरेक काम करने लगीं।

लेकिन अगले दिन आ पहुँचा वह साधु फिर। तब वह नारि-सुलभ कोमलता, जो पति के दुराचार और दुस्साहस से ठेस पाकर भीतर बेकल हो रही थी, अनुरूप आधार पाकर व्यक्त होने लगी। उसने अपने को साधु के प्रति अनुकम्पा और उसकी रक्षा के प्रति व्यग्र सचिन्तता से भरा पाया। उसने इसीलिए साधु को ऐसे अनुरोध-पूर्वक चले जाने को कहा; लेकिन साधु गया नहीं। तब पति के प्रति जो कड़वाहट उसमें फैल रही थी, उसने साधु की ठहरने के निश्चय में एक संयोग देखा। कुछ ऐसा भाव कि हाँ, मैं बैठाती हूँ, कहें-तो-कहें, करें-सो-करें—उसके भीतर गुदगुदी मचाता हुआ हुआ उठ आया। जैसे अपने प्रति अपने विश्वास और पति के

अविश्वास को, इस मौक़े को बीच में डाल कर आपस में लड़ाकर, अपनी विश्वसनीयता और अपनी हठ कायम करने की स्पर्धा की-सी चाह उसे हो आई। तब उसने साधु को बैठाने में सहमति नहीं, उत्सुक अभिलाषा प्रदर्शित की; लेकिन सो भी न हुआ। साधु भीतर नहीं बैठा, द्वार पर चला गया। फिर यही सोचकर उसे कुछ सुख मिला कि वह आएँगे, साधु को बैठा देखकर बिगड़ेंगे; लेकिन क्या कर लेंगे? लेकिन साधु चला गया और वह नहीं आये। यह तृप्ति भी उसे न मिली। तब उसने सोचा कि उनके आते ही मैं सब कह दूँगी। कहूँगी कि मैंने उसे बैठने को कहा था और वह घंटा भर यहाँ बैठा रहा!

: ५ :

आख़िर खाने के वक्त वह आये। खा रहे थे, उसी समय पत्नी ने सूचना दी, "वह फ़कीर फिर आया था।"

वह उसी तरह मौन-पूर्वक खाने में संलग्न रहे।

"...और मैंने उसे तुम्हारे लिए बैठाये रक्खा..."

पति ने कहा, "उसके आने का क्या काम था? उसकी शामत ही खींच लाई होगी।"

स्त्री ने कहा, "और मैंने इसे सब कुछ दिया..."

"तो मुझसे क्या बखानने बैठी हो? जैसे बड़ा सबाब किया।"

"...लेकिन उसने कुछ नहीं लिया।"

पति चुप।

"और मैंने उसे यहाँ दरी बिछाकर बैठाया..."

"तो मैं क्या करूँ? बड़ी तारीफ़ का काम किया न?"

"लेकिन वह बैठा नहीं। वह दरवाजे के बाहर बैठा रहा।"

पति फिर चप हो गये। यह सब बातें ऐसी लगीं, जैसे उनके

फ़ैसले को काट रही हों । उनके फ़ैसले का आधार था कि साधु बदमाश है, बदनीयती से आया था । यह बातें इसके खिलाफ़ जाती मालूम होती हैं । उस आधार पर आघात करतीं और उसे खिसकाती हैं ।

स्त्री ने कहा, "सुनो । तुम चाहे कुछ समझो, वह साधु वैसा नहीं है । वह कहता था कि वह तुम्हारे हाथ से ही कुछ लेगा । जब तक तुम उसे नहीं दे दोगे, तब तक किसी से कुछ लेगा ही नहीं । वह तो ऐसा है और तुम ऐसे हो कि ज़रा-सी बात पर उसे इतना मारा और मुझे इतना मारा । ज़रा-सी बात पर गुस्से हो जाते हो ।..."

"हाँ, हो जाता हूँ गुस्से..."

"लो, इतनी-सी ही बात पर बिगड़ने लगे ।"

"हाँ बिगड़ने लगा ।—तो तुम्हारा क्या ? तुम्हारी सीख तो खतम हो गई !"

"मैं सीख क्या दूँगी ? खुद सोचोगे, तो यही ठीक लगेगा । यों बिगड़ने लगना अच्छा नहीं होता ।"

"बस ख़तम करो, यह पचड़ा । बहुत हुआ । आराम से खाने भी नहीं दोगी ?"

"फ़कीर कह गया था कि वह कल फिर आयेगा । जब तक तुम्हारी यह आदत नहीं छूटेगी, तब तक आता रहेगा । वह तुम्हारे सिवा और कहीं से भीख नहीं लेगा ।"

बार-बार यह फ़कीर का राग सुनने को पति तैयार नहीं हैं । माना वह ठीक होगा; पर दुनिया की और कोई बात ही नहीं रही उसके अलावा, जो उन्हें इस तरह तंग किया जा रहा है । बोले— "नहीं लेगा, बस ! मर जायगा ।—हाँ, फ़कीर, फ़कीर ! फ़कीर क्या हो गया बला हो गई !"

इस तरह अपने को खुले रूप में प्रकट करके चुप हो गये ।

पत्नी को नाराज़ होने का कारण न था। उन्हें तो एक तरह का वैसा कुछ सन्तोष मिल रहा था, जैसा बालक को बोलने वाले खिलौनों को पीच कर उन्हें बुलवाने में। अन्तर यह था कि बालक को ज्ञान नहीं होता कि उसके दबाने और पत्ती के बोलने में क्या सम्बन्ध है, और महिला ऐसी बातें सुनने ही के लिए छेड़ रही थीं। वह यह तो जानती ही थीं कि अब पति के लिए साधु को मारना उतना सम्भव, आसान और प्रिय कार्य न होगा। जैसे पति का क्रोध पत्नी को शारीरिक प्रहार देकर तुष्ट होता था, वैसे ही उसके एवज़ में, उसी का लगभग समकक्ष, पत्नी में एक स्त्रियोचित भाव था, जो पति की यह मानसिक कुलबुलाहट और आक्रोश देखकर तुष्टि पाता था, या यह कहिए कि अबल का क्रोध था जिसका ज़हर निकाल डाला गया था।

पत्नी फिर और नहीं बोलीं। और पति उस भिखारी की ओर अत्यन्त उपेक्षा और निश्चिन्तता के कारण नहीं, उसके कल फिर आने की सूचना में अत्यन्त व्यस्त-ग्रस्त और चिंतित होने के कारण, कुछ नहीं बोले। और खाना खाकर, दरवाजे के बराबर वाली अपनी बैठक में आकर बैठ गये।

यह फ़कीर कहाँ का आ गया? स्त्री के साथ अब वह ठीक तौर पर बातें करने लायक भी नहीं रहे। उसके साथ जो अभिन्न हेल-मेल का सम्बन्ध था, उसमें तनाव आ गया है। वह मानो अब जम गया है, और बर्फ़ की नाईं बीच में पड़कर उन दोनों में ऐसा व्याघात उपस्थित करता है कि समझ नहीं पड़ता कैसे टूटेगा। इस अन्तर को बीच में पाकर ऐसा लगता है कि उनकी स्त्री उस पार है और वह इस पार। पहले घुले-मिले, अभिन्न एक दूसरे के प्रति सर्वथा प्रत्यक्ष और खुले थे—न जाने कैसे थे? अब जैसे वह अलग हो गई है और यह अलग रह गये हैं। और दोनों एक दूसरे के लिए अजनबी हुए जा रहे हैं।... एक राह चलते

फकीर को लेकर यह हम लोगों ने क्या कर डाला है ? हमने क्या, मैंने किया है। उस फकीर के बहाने को लेकर मैंने जैसे स्त्री को धक्का देकर दूर कर दिया है और अब उस दूरी को खुद लाँघ कर उसके पास पहुँचने का मैं साहस नहीं कर रहा हूँ । वह साधु हम लोगों के जीवन में गड़बड़ और कलह डालने न जाने किस बुरी सायत में चला आया कि अब पीछा नहीं छोड़ता । कल आयेगा, तो मैं बाहर-ही-बाहर समझाकर या तो, नहीं तो दुरुस्त करके वापस कर दूँगा, और लौटकर अपने गृहस्थ-जीवन के शान्त तल पर जो विक्षुब्धता आ उठी है, और जो सलवटें पड़ गई हैं, माफ़ी माँग कर या जैसे होगा, उन्हें ठीक कर दूँगा।

यह सोचकर उन्होंने कुछ स्थिरता पाई।

: ६ :

अगले दिन प्रतीक्षा में रहे। वह आता दीखा, तो आगे बढ़ रास्ते में ही उसे मिले, "कहाँ जाते हो ?"

"तुम्हारे पास आता था..."

"मैं यह हूँ । मुझसे तुम्हारा कोई काम नहीं । मैं कहता हूँ, लौट जाओ।"

"भीख लेने आता था । भीख नहीं देते, कहते हो लौट जाओ, तो लौट जाता हूँ।"

इतना कहकर वह लौटने को हुआ।

"अच्छा, ठहरो...।"

वह ठहर गया ।

उन्होंने पूछा, "कल तैंने भीख कहाँ पाई ?"

"तुम तो थे नहीं घर पर, किससे पाता ?"

"मुझसे ही लोगे ?"

"और किसी से कैसे ले सकता हूँ ?"

"मैं न दूँ तो..."

"भगवान् की मर्ज़ी।"

"भगवान् की मर्ज़ी! मेरी मर्ज़ी नहीं?"

"तुम्हारी मर्ज़ी में भगवान् की ही मर्ज़ी है।"

"मैं न दूँ, तो तुम भूखे रहोगे?"

"भगवान् की मर्ज़ी पूरी होगी।"

"लेकिन मैं तुमसे पूछता हूँ, मेरे घर आकर क्यों तुम बखेड़ा करते हो? और घर कम हैं, जो तुम्हें मेरा ही घर सूझा है?"

"फ़क़ीर के घर आने को क्यों बखेड़ा समझते हो? फ़क़ीर के लिए जैसा तुम्हारा घर, वैसा औरों का घर।"

"नहीं, हिन्दुओं के यहाँ बहुतेरे घर हैं..."

"फ़क़ीर सब का होता है और फ़क़ीर के सब हैं। हिन्दू-मुसलमान दुनियादारी की बातें हैं, सच्ची बात में हिन्दू-मुसलमान क्या?"

"लेकिन तुम यह क्यों नहीं देखते कि मेरे घर तुम्हारे आने से अड़चन पड़ती है, झंझट पैदा होती है?"

"क्यों अड़चन पड़ने दो, क्यों झंझट पैदा करो?"

"क्या तुम हम पर रहम रख कर अपनी ज़िद नहीं छोड़ सकते?"

"यह झूठा रहम होगा। और मेरी अगर ज़िद भी हो, तो तुम्हारा इसमें नुकसान क्या?"

"देखो, तुम्हारे आने के दिन ही औरत पर मेरा हाथ छूटा। तबसे हम एक दूसरे से ठीक बोलने-लायक नहीं रहे। तुम लौट जाओ, मैं कहता हूँ।"

"यह ठीक है। इसीलिए मैं आता हूँ। देखूँ, कबतक मैं अपने को इस लायक बना पाता हूँ कि मुझसे तुम्हें गुस्सा न हो।"

"अच्छा यहाँ आओ...."

साधु को साथ लेकर वह अपनी बैठक में आ गये।

"बैठो..."

साधु एक मोढ़े पर बैठ गया। वह भी एक कुर्सी पर बैठ गये। साधु ने कहा, "एक घंटे के बाद मुझे लौट जाना होगा। इसका ख्याल रक्खें।"

दारोग़ा ने कहा, "मेरी यह समझ में नहीं आता कि तुम क्यों हमारे घर का अमन तोड़ने पर तुले हो और क्यों किसी को तुम कुछ-न-कुछ देने को लाचार करते हो। अगर कोई कुछ नहीं देना चाहता, नहीं दे सकता, तो तुम्हें इससे क्यों ज्यादा सरोकार होना चाहिए? यह मैं इसलिए कहता हूँ कि तुम समझ की बातें करते हो।"

साधु ने कहा, "जो शान्ति, फ़क़ीर के आने या चाहने पर टूट जाय, वह मज़बूत काफ़ी नहीं हुई; इसलिए उसकी कितनी कीमत हो सकती है? और मेरी भीख की माँग कितनी है? दो टुकड़े नहीं दे सकते, न दो, मेरे लिए दिल की मुहब्बत ही बहुत है। वह पा लूँगा, तो समझूँगा जो चाहिए था, पा लिया। रोटी तो पेट के गढ़े को भरने और इस बदन को जीता रखने के लिए है, वह भी मुहब्बत के साथ न मिली, तो क्या मिली? और मुहब्बत मिल गई, तो फिर रोटी की क्या बात है? इस मुहब्बत का तक़ाज़ा तो मैं सबसे करता हूँ और सबसे करूँगा। [illegible] से बरी मैं अपनी तरफ़ से तो किसी को न कर सकूँगा। मेरे लिए तो दुनिया में यही एक सरोकार रखने के लिए चीज़ है। इसी की मुझे ज़िद है।"

दारोग़ा निरस्त्र हो ही गये थे, अब जैसे पिघलने भी लगे। लेकिन पूछा, "साधु कबसे हुए? सच-सच बताना।"

साधु ने कहा, "यह सब जानकर क्या करोगे? क्यों हुआ, इसके जवाब में यही कह सकता हूँ कि परमात्मा ने चाहा, इसलिए हो गया। उसने चाहा कि मैं सब जगह उसकी मुहब्बत का जलवा देखूँ, इसलिए मुझे इस राह पर लगा दिया।"

दारोग़ा ने कहा, "अच्छा, मुझे माफ़ कर सकते हो ? मैंने तुम्हारी तरफ़ बड़ा गुनाह किया है।"

साधु ने कहा, "माफ़ तो वही करता है । और सच्चे जी से उससे माफ़ी माँगी नहीं कि उससे पहले ही माफ़ कर देता है। सच यह है कि आदमी खुल कर माफ़ी तभी माँग सकता है, जब वहाँ से उसे माफ़ी मिल चुकी होती है। और मैं ! आज कितना खुश हूँ, कितना शुक्रिया मानता हूँ उसका, कैसे कहूँ !"

दारोग़ा ने कहा, "आप इतने यहाँ बैठें, मैं अभी आता हूँ।" कहकर अन्दर गये।

मानो अब ऐक्य में जो कुछ बाधक था, सब-कुछ बह गया है। स्त्री से कहा, "दो दस्तरखान बिछाओ और अपने कमरे में जल्दी तैयारी करो। उन्हें ज्यादा फ़ुरसत नहीं है।"

पत्नी, आनन्दित-चकित, न समझ सकी, क्या बात है, कौन हैं; लेकिन एक परिवर्तन—जो जैसे उसके सौभाग्यविधायक ने उस के पति में सम्पन्न कर दिया है, वह कैसे छिप सकता ? पूछा, "ऐसे कौन हैं ?"

उत्तर मिला, "कौन-वौन नहीं, जल्दी करो। पन्द्रह मिनट में हम आते हैं।"

पत्नी उत्साह के साथ काम में लगीं, जो उत्साह तर्कातीत है, जो जैसे भीतर से उछला आ रहा है।

कमरे में आकर साधु से कहा, "आपको भीख नहीं दी जायगी। दावत दी जायगी । मैं समझता था, आप हर्ज और गड़बड़ पैदा करने यहाँ आ पहुँचे हैं । जैसे हम दोनों में फ़र्क़ डालना आपका काम है; लेकिन अब और देखता हूँ । जैसे वह फ़र्क़ पड़ना हम में ज़रूरी था, जिससे उस फ़र्क़ के ज़रिये हम एक-दूसरे को और अच्छी तरह देख सकें, समझ सकें और पा सकें। आप फ़र्क़ डाल

कर हमें और मज़बूती से मिलाने के लिए ठीक संयोग से यहाँ आ पहुँचे, अब मुझे इसमें सन्देह नहीं मालूम होता।"

साधु ने कहा, "यह तो कहना कठिन है कि क्या किस मतलब से होता है। क्योंकि परमात्मा का राज्य इतना बड़ा है और हम उस के ज़र्रे के ज़र्रे से भी इतने नन्हे हैं कि उसके इन्तज़ाम को नहीं समझ सकते; लेकिन हम मज़बूती से दिल में यह रख लें कि सब परमात्मा करते हैं और वह दयालु हैं। और जो कुछ होता है, उसे चेष्टा करके अपनी उन्नति के अनुकूल रूप में देखें और समझें । वासना को बीच में डालकर अपने को तंग न करें। बाहर से बात में कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ा; लेकिन परसों से मेरे आने को जिस रूप में देखते थे और अपने को तंग करते थे, आज वैसे नहीं देखते और खुश हो यानी मुझ में, खुद में न तो तुम्हें खुश करने की कोई सिफ्त है और न रंज में डालने की। लेकिन फिर भी तुम रंज में थे और अब खुश हो। मैं वही हूँ, मेरा आना वैसा ही है, फिर भी तुम्हारे नज़दीक बहुत भेद पड़ गया। इसलिए इस विश्वास में मज़बूती से निवास करोगे कि सब कुछ वह करता है, तो बाहरी चीज़ ऐसी नहीं रह जायगी, जो तुम्हारी शान्ति को तोड़ सके; तब तुम्हारी शान्ति ऐसी निर्मल, दृढ़ और प्रकृतिस्थ हो जायगी।..."

इतने में भोजन के लिए बुलाहट हो गई । दारोग़ा ने कहा, "आपको मेरे पास बैठकर खाने में एतराज़ न होगा, मुझे उम्मीद है।"

साधु ने कहा, "एतराज़ तो मुझे किसी के भी साथ बैठकर खाने में होना चाहिए । झोली में डालकर ले जाने और अपने स्थान पर खाने की ही आदत मुझे पसन्द है; लेकिन आज मैं तुम को अपने इस एतराज़ से नहीं डराऊँगा। हाँ, खाने की चीज़ों में कुछ ख्याल रखता हूँ।"

दारोग़ा ने कहा, "उस ख्याल का तो मुझे भी ख्याल रहता है। ...तो चलिए।"

दोनों बैठक से निकल कर चले। जब साधु ने देखा—उन्हें 'अन्दर' ले जाया जा रहा है, तो उसे तनिक विस्मय हुआ, संकोच भी। पूछा, "कहाँ ले जा रहे हो?..."

दारोग़ा ने कहा, "चलिए। फ़िक्र न कीजिए। आपके लिए कहीं रोक न होगी। आप तो उसके हैं, जो सब जगह है।"

महिला ने देखा, तो विस्मय और हर्ष का ठिकाना न रहा। जो चाहती थीं, वह सब यों अनायास पति में कब और किस तरह घटित हो गया!

उन्होंने जिस कृतार्थ और धन्य-भाव से खिलाया, वह वर्णन में नहीं आ सकता।

साधु ने मानों उन्हें उनका परम इष्ट प्रदान किया। उन्होंने जैसे पति को और नये सिरे से घनिष्ठ रूप में प्राप्त किया।

भोजन के बाद पति ने कहा, "जानती हो, इन्होंने मुझे क्या बताया है? इन्होंने बताया है कि शान्ति वह रक्खो जो टूटे नहीं, जो दूसरे पर निर्भर होकर न रहे, न किसी बाहरी घटना पर, न व्यक्ति पर, जो खुद में पूरी हो और सर्वथा यथार्थ हो।"—और साधु से पूछा—"क्यों, यही न?"

पत्नी ने कहा, "तुमने इनसे माफ़ी माँगी?"

साधु कुछ कहने को हुआ।

पति बीच में बोल पड़े, "यह तो कहते हैं मेरे हाथ न माफ़ी है, न नाराज़ी। यह कहते हैं, जो सबका मालिक है, उससे ही माँगो, उससे ही लो।"

साधु ने कहा, "हाँ, सब लेना-देना सीधे उसी से रखना चाहिए, वह सब दुःख हरता है।"

पत्नी ने कहा, "लेकिन गुनाह बड़ा है। तुम बाबा, हमारा ध्यान

रखना और, हमारे लिए दुआ माँगना । हम दोनों को तुम्हारी माफ़ी और दुआ चाहिए ।"

साधु ने ज़रा मुस्करा दिया "हाँ, मैं तुम्हारे लिए दुआ माँगूँगा और माफ़ी मागूँगा । मैं दुनिया के लिए यह माँगता हूँ ।" और उसी मुस्कराहट के साथ पूछा, "कोई बाल-बच्चा है ?"

पत्नी ने पति की ओर देखा और पति ने पत्नी की ओर । फिर झट दोनों धरती की ओर देखने लगे ।

पत्नी ने फिर दबी ज़बान से कहा, "बाबा, इसके लिए भी दुआ माँगना । बरसों से हमारी साध है । तुम्हारी दुआ लग जायगी, तो जस मानेंगे ।"

साधु ने कहा, "वह सब-कुछ देगा । उससे माँगे जाओ । मन, बुद्धि और देह से जितने के तुम समर्थ होगे, जितने के अधिकारी होगे और जितना तुम्हारे लिए उचित और हितकर होगा, और जितनी तुम्हारी प्रार्थना में शक्ति होगी, उतना ही वरदान तुमको उससे मिलेगा । भरोसा रक्खो, वह सब-कुछ देगा ।"

कुछ देर बाद साधु ने कहा, "एक घंटे से काफ़ी ज्यादा होगया, मैं अब जाऊँगा । मेरे लिए तुम लोग भी दुआ माँगना ।"

वह चला गया ।

* * *

डेढ़ साल में उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई । दोनों साधु के बड़े कृतज्ञ हैं । पुत्र को उसी का प्रसाद मानते हैं । हम पति-पत्नी की इस कृतज्ञता और मान्यता को, केवल बुद्धिहीन भावुकता समझें क्या ?

एक टाइप

मेरठ स्टेशन से जब रेल चली तब देखा—एक पकी आयु के सज्जन दो बेंचों के बीच से अपनी राह बनाते हुए मेरी बिछी दरी के पास की खाली जगह को निगाह में रख कर मेरी ओर बढ़े आ रहे हैं।

"क्या मैं यहाँ बैठ सकता हूँ ?"

कहा, और दरी के कोने को जरा उठा कर रूमाल से उस जगह को झाड़ते हुए मेरे उत्तर की बिना अपेक्षा रखे वह वहाँ बैठने लगे।

मैंने कहा, "फ़िक्र न कीजिए, इसी पर बैठिए।" और उनके हाथ से दरी का छोर लेकर मैंने फिर ठीक से बिछा दिया। सज्जन बैठ गये।

बैठकर अपने चश्मे के मोटे लैन्सों में से उस कम्पार्टमेण्ट में अवस्थित नर-नारियों को वह निस्संग भाव से देखने लगे।

कुछ लोग अपने में व्यक्ति नहीं होते, वे एक टाइप के प्रतिनिधि हुआ करते हैं। उन्हें अपने जातिगत व्यक्तित्व की इकाई समझिए। वह रामलाल हैं, या श्यामलाल हैं, या शीतलप्रसाद हैं, या ये तीनों न होकर चौथे नाम वाले हैं। इससे कोई फर्क नहीं आता। ये सब

जगह सब नामों के नीचे एक ही मूल्य के द्योतक हैं। सामाजिक प्राणी की हैसियत से अमुक ही उनकी जीवन की नीति होती है, वस्तुओं का अमुक मूल्य, और विचारों की वही एक काट की बनावट। वे अपना निज का व्यक्तित्व बनाने के झंझट से आरम्भ से ही बचे होते हैं और अपने विश्वास आप गढ़ने का कष्ट भी उन्हें उठाना नहीं होता। ऐसे ये विश्वासी जीव निरापद जीवन यापन करते हैं।

इसी भाँति मध्यम-मार्गी दीन-दुनियादार आदमियों की जाति का भी एक साँचा-सा बन गया है। वह मध्यम शिक्षा उठाकर, मध्यम नौकरी या मध्यम व्यवसाय में लग जाता है, और अपनी मध्यम गिरस्ती रचाता है। वह पाप से बचता है, दान-पुन्न करता रहता है। घर बनाता है, जीवन का बीमा कराये रखता है, और अन्तिम दिनों में परलोक-साधन के लिए व्यवस्थित रूप में भगवद्भजन करता है। चोरी उसके लिए पाप है, झूठ गुनाह, तीर्थयात्रा धर्म, रिश्वत हक, और सूद सबसे ईमानदारी की आय। पैसा बड़प्पन है, और बड़ा मकान, बड़ी गिरस्ती और बड़ी आमदनी ही इसके लिए प्रतिष्ठा का लक्षण और सफलता की पहचान है। वह समाज के धरातल को बताता है। वह समाज की रीढ़ है। बँधा धर्म, बँधी आय और बँधे कर्म का यह स्वस्थचित्त और सन्देह-मुक्त जीव, अर्थप्रधान जलवायु में अच्छा मग्न रहता है।

रेलवे की वर्दी का जाड़ों का एक नीला कोट सज्जन पहने थे, गोल फेल्ट-कैप थी, ठीक-ठाक कमीज, ठीक-ठाक धोती और सुव्यवस्थित रूप में तस्मों से बँधा हुआ काला शू। जेब में एक किताब पड़ी हुई थी। सुघराई से रखी इज्जतदार मूछें थीं और शेव आज ही किया हुआ था। अवस्था पचास-पचपन होगी।

"आप कहाँ जा रहे हैं?"

मेरे हाथ में अँगरेज़ी का अखबार था जो उसी स्टेशन से लिया था। और मैंने देख पाया कि उधर उन्होंने देखा है, गोया वह कहना चाह रहे हैं—'मैं अखबार रोज पढ़ता हूँ, लाइए, दीजिए।' मैंने कहा, "मैं पास ही जा रहा हूँ, लीजिए अखबार देखिए।" उन्होंने अखबार ले लिया; उसे हाथों में रखकर पूछा, "गाँधी महात्मा आजकल कहाँ हैं?"

मैंने मन के भीतर कहा, "अजी महात्माजी की फिक्र छोड़िए। उनकी फिक्र आप अपने पर चढ़ने देंगे तो आपका चैन अखण्ड न रहेगा।" और भीतर यह कहकर मैं चुप रहा।

मुझे चुप देख वह बोले, "गाँधीजी सच्चे महात्मा हैं, साहब। मैं भी खद्दर पहनता हूँ। यह देखिए, अन्दर की बनिआइन, देशी मील की है। लेकिन साहब, खद्दर महँगा बहुत है। हम गरीब क्या करें?"

मेरा ध्यान अखबारों को पकड़े हुए उनके दायें हाथ पर था, जिसकी नसें उभरी हुई थीं, भूरे-भूरे घने बाल उगे थे, अँगुलियाँ मोटी और छोटी थीं, अँगूठा गुट्ठल था, और कलाई पर चमड़े में जड़ी 'कीप सेक' बैठी मिनट-मिनट सरक रही थी।

"दिल से साहब हम महात्माजी के साथ हैं। लेकिन घर-बार है, बाल-बच्चे हैं। एकदम तो सब-कुछ छोड़ा नहीं जा सकता। हमारे कस्बे में भी एक बार महात्माजी आये थे।"

कुछ देर में एक स्टेशन आया, रेल ठहरी और बराबर की बेंच से एक महाशय वहाँ उतर गये। सज्जन उठकर उस खाली जगह चले गये।

मैंने कहा, "बैठिए, बैठिए।"

बोले, "मैं ठीक हूँ, आप आराम कीजिए।"

उन्होंने अपनी आँखों के सामने अखबार फैला लिया और मैं कुछ देर टालकर बिस्तर पर लेट गया।

अखबार का यह सफ़ा देखा, वान्टेड पर कुछ देर रुके और तीन-चार मिनट में अखबार मेरी ओर बढ़ाकर कहा, "लीजिए साहब। थैंक्स।"

अखबार लेकर मैंने तकिए के नीचे डाल लिया। अब वह रेल की खिड़की की राह बाहर भागते हुए खेतों की ओर देखने लगे। मालूम हुआ—वे इसमें बहुत मग्नता पा सकते हैं। मानों उन्हें वहाँ से कुछ सन्देश-सा, कुछ विस्मृति-सी अथवा कुछ स्मृति-सी प्राप्त होती है। वे कुछ देर चश्मे में से बाहर का दृश्य देखते, कुछ देर बाद चश्मा माथे पर चढ़ा लेते और खुली आँखों से दृश्य-पान करते।

मैंने पूछा, "कहिए आप कहाँ जाएँगे?"

बोले, "मैं भी दूर नहीं जाऊँगा।"

मैंने पूछा, "क्या कारबार है? मुलाजमत करते हैं?"

"करना-कराना तो साहब सब निबटा चुका। अब तो भगवान् का सुमरन ही है।"

"पेन्शन हो गई है?"

"जी हाँ, बाल-बच्चे काम सँभालते हैं।"

मैंने कहा, "बड़ा लड़का है? क्या उमर है?"

"तीस बरस का होगा। रेल में ३५) का नौकर है।"

"और उसके भाई-बहन हैं?"

"जी हाँ, चार भाई और चार बहनें और हैं।"

"सबकी ब्याह-शादी हो गई?"

"नहीं साहब, दो लड़के और दो लड़कियाँ अभी छोटी हैं।"

"क्या पेन्शन है?"

"अजी पैंतीस रुपए मिलते हैं। बीस रुपए से मेरी नौकरी लगी थी। रिटायर होते वक्त सत्तर तक पहुँच गया।...दो लड़के हाईस्कूल में पढ़ते हैं। छोटा प्राइमरी में है। बड़े दो नौकरी से लगे

हुए हैं। दो लड़कियों के हाथ पीले कर ही चुका, बाकी दोनों के ब्याह में दो-दो ढाई-ढाई हज़ार और लगाना है। वह भी हो जायगा। लड़कों के लिए दो अलग मकान बनवा दिये हैं। अपना फर्ज इतना ही कर देना है। आगे की भगवान् जानें। वे हैं और उनका भाग्य। अजी कौन किसका करता है। सब अपने करम का खाते हैं। जितना हो सका कर दिया है। और अपना क्या है। दो साल और रहा तो बीमे की रकम भी पक जायगी। आठ हज़ार वह हो जाएँगे। यह सब बाल-गोपाल का ही समझिए। हमें अपने लिए अब क्या करना है? दो रोटी और राम का नाम।"

मैंने पूछा, "आपकी पेन्शन पैंतीस रुपए है न? फिर यह सब आपने कैसे बन्दोबस्त कर लिया?"

वह हँसे नहीं, रुष्ट भी नहीं हुए, उन्हें जैसे विस्मय हुआ और उन्होंने कहा, "तनख्वाह बीस से ही शुरू हुई थी, लेकिन उसी के भरोसे कौन रहता है?"

मैंने कहा, "रेल में इतनी आमदनी है?"

बोले, "करने वाले के लिए सब जगह रास्ते हैं। अनसूझते के लिए क्या कहा जाए?"

मैंने कहा, "तब तो आप बेफिक्र हैं?"

बोले, "जी हाँ, मैं किसी खटराग में नहीं हूँ। दुनिया देखी, सब माया है। सब परपञ्च है। जितना मोह करो, उतना ही वह खाने आता है। और कुनबे वाले क्या? सहाई क्या? अपना असल में कोई भी नहीं है। सत्त नाम ही अपना है और कुछ साथ नहीं जाता।"

मैं सज्जन की ओर देखने लगा। वह हर भाँति सम्भ्रान्त और शीलवान् दीखते थे। देखते ही उनके प्रति आदर होना स्वाभाविक था। उनके जीवन में और उनके मन में शंका का कीड़ा कहीं न

दीखता था और पचास-पचपन के होने पर भी उनके चेहरे पर और कदाचित् हृदय पर भी विशेष रेखाएँ न बनी थीं।

मैंने तब हठात् अपने तकिए के नीचे से अखबार झपट कर खींच लिया। उसमें आँख चिपका, मैं तकिए के सहारे सीधी तरह लेट गया। पलकों पर सपने-से आने लगे और मैं सो गया।

मुझे प्रतीत हुआ, जैसे मैं कहीं बाग में हूँ और ऊँचे-ऊँचे पेड़ हैं और बहुत-सी मधुमक्खियाँ भनभन-भनभन कर रही हैं। मैं दोनों हाथों से उन्हें हटाना चाहता हूँ, पर उनकी भनभनाहट दूर नहीं होती। वे इकट्ठी की इकट्ठी मिलकर चारों ओर घुमड़ रही हैं। मुझे भय है, वे मुझे काटेंगी। मैं हटाना चाहता हूँ, वे नहीं हटतीं। मैं संकट में हूँ।...

तभी सहसा मेरी आँख खुलीं। मैंने पाया, सज्जन अपनी सीट पर बैठे आँख मूँदे कुछ गुनगुना रहे हैं। मुझे मालूम हुआ वह भगवान् में लीन हैं। वह जैसे मचल-मचल कर कहना चाह रहे हैं—

"सान्ताकारंग भुजकसेनंग पद्मनाबं सुरेखम् "

वह खूब भावासिक्त हैं, आर्द्र हैं, और उनका सिर रह-रहकर भक्ति में डोल रहा है—

"विस्विआधारं गगनसदिसां मेघवर्णन सुभांगम्।"

मैं फिर सोने की चेष्टा करने लगा। लेकिन श्लोक के दुहराए जाते चरण रुक-रुककर मेरे कानों पर लगते थे। वे किसी भी भाँति प्रीति-वर्द्धक नहीं थे। और मैं सोचता था—भक्ति मौनावलम्बी हो तो क्या उसकी कम सुनाई होती है ? लेकिन श्लोक तो पूरा होता ही रहा—

'लक्ष्मीकान्तं कमलनैनं योगिबिन्ध्या सुनगरम्।'

फिर चौथा चरण भी आया—

'बन्दे विष्णु' भवभय हरम सर्व लोकेश्रनाथम्।'

उसके काफी देर बाद तक आँखें उनकी मुँदी रहीं। फिर जब वे खुलीं, मालूम होता था वे नई-ही-नई इस दुनिया की माया पर खुली हैं और यह माया उनकी कोरी दृष्टि से एकदम नीचे है।

उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "आपने यह पुस्तक देखी है?" और जेब में से वह पुस्तक निकाली। मैंने पुस्तक का नाम देखा—'तत्त्वचिन्तामणि।' वह मेरी बहुत ही रुचि की पुस्तक थी। एक बार देखकर मैंने उसे अपने स्वाध्याय की पुस्तक बनाना चाहा था। लेकिन उसी पुस्तक को उनके हाथों से अपनी ओर बढ़ती आती पाकर मुझे असमञ्जस हुआ। उस पुस्तक को उस समय हाथ में लेकर उलटना-पलटना और उसकी प्रशंसा करना मुझे रुचिकर न हुआ। मैंने कहा, "जी हाँ, आपको इस पुस्तक में रस मिलता है?"

बोले, "अपूरब पुस्तक है। आपने 'कलियान' पत्तर देखा है! गोरखपुर के ये 'कलियान' वाले लोग बड़ा उपकार का काम कर रहे हैं, साहब!"

मैंने कहा, "जी-हाँ, जी-हाँ।...आप संस्कृत तो खूब जानते होंगे?

बोले, "अजी नहीं साहब। संस्कीरत जानते तो नहीं। लेकिन देवभाषा तो साहब, वही है। और उसमें कितना मिठास है, देखिए—

"सान्ताकारंग भुजगसेनंग..."

और दो-दो बार दुहराकर श्लोक के पूरे चारों चरण उन्होंने मुझे फिर सुनाये।

और भी गहन तत्त्व की और दर्शन-भक्ति की बातें वह मुझसे करते रहे। गनीमत यही थी कि मुझे पास ही उतरना था। मेरा स्टेशन आया और मैंने उतरते हुए सज्जन से बिदा ली।

उन्होंने कहा, "अच्छा जाइएगा? भगवान कुशल-मंगल रखे।" और बिस्तर को लपेटते हुए जो मेरा अखबार नीचे गिर गया था उसे उठाकर, मुझे दिखाकर सज्जन ने कहा, "क्या इसकी आपको जरूरत है?"

मैंने कहा, "नहीं-नहीं, आप रखिए।"

और मैं चला आया।

इक्के में

हठात् विदा ली, और झटपट इक्के पर सवार हो मैं चल पड़ा।

चलते इक्के में अकेला बैठा सोचने लगा, "तुम भी आदमी हो। वक्त पर कुछ कर सकते ही नहीं, फिर सोचते हो, क्यों नहीं कर सके। बैठे सोचा करो, कुछ नहीं, तुम निकम्मे हो। हाँ तो, सीधे मुँह उठाकर चलते चले आए, यह नहीं कि गुरुजनों के चरन छू चलो।"

और इक्का चल रहा था। और इक्केवान अपने मरियल घोड़े को टिक-टिक करता चला रहा था। और घोड़ा सैकिंड दो सैकिंड इक्के के बोझ को जरा जल्दी खींचता, फिर अपनी रफ्तार पर आ जाता। और बनारस की सड़क और गली इसी भाँति पार होती जा रही थी।

सोचा—यह क्या बात है जी, कि कहीं जाओ और फिर वहाँ आ जाओ। पहले तो कहीं जाओ ही क्यों और अगर चल ही पड़े और पहुँच ही गए तो फिर वहाँ से आ जाना क्यों जरूरी हो जाना चाहिए? नहीं नहीं, सब गड़बड़ है। यह सब तमाशा है—

और मैंने गिरने से बचने के लिए एक दम इक्के का डंडा पकड़ लिया, कहा, "ठीक से क्यों नहीं चलाता रे, इक्का ?"

बोला, "बाबू चुन्गी की मिन्सपल्टी में लकच्चर होत हैं, और सड़कन में गड़हे पड़े जात हैं।"

मैंने कहा, "गाड़ी में वक्त थोड़ा है। ज़रा इक्का बढ़ाए चल।"

उसने कहा, "होय टिक-टिक।"

और घोड़े के खड़े दाएँ कान पर चाबुक का तस्मा भी जोर से बिठा दिया।

घोड़ा अगले पैरों पर जोर देकर बढ़ा, दौड़ा, और फिर वैसा ही मद्धिम हो गया।

और पास रक्खे पुलिंदे पर कोहनी टेक, और ठोड़ी हथेली पर रखकर देखने लगा। यह भारत-धर्म-महामण्डल है, और उसके चारों ओर खेत भी हैं और बगीचे भी हूँ। और यह लाल तीन मन्जिल का मकान कैसे सुन्दर डिज़ाइन पर बना है। और ये औरतें रोज सामने के इस तीन मन्ज़िल के सुन्दर लाल मकान को देखती हैं, हँस-हँसकर अपनी टोकरियाँ बुनती हैं, गालियाँ बकती हैं, अपने-अपने मर्दों को लेकर अपने बन्द घरों के भीतर फूस-गूदड़ को ओढ़ना-बिछौना बनाकर सोती हैं, और रात काट देती हैं। और फिर दिन में आकर इस लाल विशाल महल की गुर्राती आँखों के सामने हँसती और चुहल करती हुई अपना गोबर पाथती और टोकरी बुनती हैं। और हम कहते हैं, प्रेम। और प्रेम के साथ कहते हैं, गुलाब, बुलबुल, शराब, मखमल के तकिये, खड़े आइने और यह और वह। और कहते हैं विरह, वियोग, विछोह, कसक, टीस, आह, आँसू, आग आदि। और कहते हैं, सौन्दर्य, और Aesthetics। और कहते हैं आर्ट।...और ये औरतें मर्दों को लेकर अनगिनत बच्चे जनती हैं, और गोबर पाथती हैं, और टोकरी बुनती हैं, और हँसती हैं और झगड़

पड़ने को भूखी रहती हैं, और गालियों से भरी रहती हैं।...और भारत-धर्म-महामण्डल का कार्यक्षेत्र विशाल है, और कार्यालय भी बारौनक है।...

मैंने कहा, "क्यों रे, यह इक्का और यह घोड़ा! तभी तैंने चिल्ला-चिल्ला कर मुझे अपने इक्के पर बुलाकर बिठाया। गाड़ी न मिली तो तुझे धेला न मिलेगा।"

इक्के-वाले ने चाबुक सर्राया और एक कस कर दिया, और एक अति घनिष्ठ गाली दी। घोड़े ने दुलत्ती झाड़ी और फिर दौड़ पड़ा। तब इक्के वाले ने कहा, "वाह मेरे बेटे! और अपने बेटे के पुट्ठे पर प्यार के चार थपके दिये।"

मैंने देखा, "चाबुक की चोट पर घोड़ा एक बार खीझ में दुलत्ती झाड़ता है। तब क्या मैंने यह भी नहीं देखा कि प्यार की थपकियों पर एक बार ही उसकी देह में हर्ष की सिहरन दौड़ जाती है, खड़े कान खड़े रोंगटों की तरह काँपते-से हैं और भाग की चाल में उल्लास आ जाता है? उसने क्या नहीं सुन लिया है--और वह उछलता हुआ पीछे इक्के के बोझ को खींचता खुशी से भागता चला जा रहा है।

सोचा, "चाबुक की चोट क्या झूठ है? नहीं तो फिर क्या प्यार की थपकियाँ झूठ हैं? एक ही इक्के वाला अपने घोड़े को कोड़ा मारता है, और बेटा कहकर प्यार करता है। इसमें कौन बात झूठ है, और कौन सच है? किस बात में वह इक्के वाला अधिक प्रकट, निकटता से घनिष्ठ और प्रकाशित है?"

मैंने इक्के-वाले को अपने स्थान से देखा, चेहरे पै रेखाएँ छाई थीं जिनमें जानना असम्भव था कौन क्या प्रकट करती हैं और कौन क्या। माथा कम था और भौंहे भारी-घनी होकर आँखों पर छज्जे-सी छाई थीं और ठोड़ी की नोक लटकती जा रही थी।

मैंने कहा, "कब से बनारस रहते हो?"

उसने कहा, "बाबू, दस बरस हुई गए, तबहिं से यह जिनावर हमारे पास है। कबहुँ इन्ने दगा नहीं दई, वफादार जिनावर है।"

कहकर, घोड़े को जो धीमा होता जा रहा था, गाली देकर घुमा कर एक कोड़ा जमाया, "अत्तेरे साले..."

मुझसे कहा, "बाबू, पूरे दस साल हुई गए। और इहाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहत आ रहे हैं। परि, जबहुँ से जा इक्का में परे हैं जेइ जिनावर है।"

और मैं इक्के के बीच में बैठा सड़क पार करता हुआ रेल के स्टेशन के निकट खिंचा हुआ जा रहा था।

...क्यों जी, य' क्या है? अभी बनारस, अभी टिकट लिया, रेल में बैठे, और कल दिल्ली और आज बनारस? क्यों रोज़ ही रोज़ एक ही अपने स्थान पर नहीं? और क्यों वहीं पूरी तरह तृप्ति नहीं?...पर, किस लिए एक जगह तृप्त रहा जाय?...तृप्त ही क्यों रहा जाय? क्यों न यहाँ से वहाँ भागते फिरे जायँ, और एक दिन आये कि जहाँ हों वहीं ठण्डे होकर ढेर हो जायँ? आखिर यही तो होना है—फिर क्या नहीं, और क्या हाँ।

और यह रेल भी तमाशा है। फक-फक करती हुई आकर खड़ी हो जाती है, और कहती है—'आओ लोगो, यहाँ से वहाँ चलो।' और पाँच-दस मिनट बेचारी चुपचाप प्रतीक्षा में खड़ी रहती है, और लोग जो आते हैं उन्हें अपने पेट में लेकर फक-फक करती हुई फिर चल पड़ती है। और कुछ काम ही नहीं है इसे, यही करती रहती है। हर जगह यही कहती है—'यहाँ से चलो वहाँ।' और लोग इसी स्थानान्तरित होते रहने को कहते हैं—'हम काम कर रहे हैं।' इसीकी परिभाषा बनाकर कहते हैं—'हम व्यापार कर रहे हैं, व्यवसाय कर रहे हैं,—प्रचार कर रहे हैं, आन्दोलन कर

रहे हैं, उपकार कर रहे हैं, परिवर्त्तन कर रहे हैं,—हम काम कर रहे हैं।'...

अबके जोर से मेरा सिर पास रक्खे अपने बिस्तर के पुलिन्दे में लगा। ख़ैर हुई कि ट्रङ्क में नहीं लगा। ध्यान आया, दुनिया ख़याली नहीं है, और यह बनारस का इक्का है और बनारस की सड़क है; इसलिए, ख़याली जीव बनकर बैठूँगा इसमें, तो ख़ता खाऊँगा।

मैंने कहा, "सम्भाल के क्यों नहीं चलाता रे, इक्का। और मैं, सम्भल-सम्भाल, चौकन्ना हो बैठा।"

देखता हूँ कि सड़क को पार करने की जल्दी नहीं है। इक्के के नीचे से गहरे चेचक के दाग-से गड्ढों वाली यह बुढ़िया ख़ाला सड़क बड़ी धीमी-धीमी चाल से खिसक रही है।

मैंने कहा, "इक्का बढ़ाता है कि रेल निकालने की धुन में है? रेल निकली कि फिर तू है, और मैं।"

उसने घोड़े की पूँछ के पास हाथ लगाकर कहा, "होय, टिक-टिक..."

मुझ से कहा, "बाबू, कहाँ जाव?"

मैंने खुशी से कहा, "दिल्ली।"

'दिल्ली!' और वह मुझे आँख फाड़कर देखने लगा, "बाबू, दिल्ली!" उसने समझा होगा, सोने से कम कीमती धातु तो क्या दिल्ली की सड़कों में लगी होगी, और पानी की जगह लोग इत्र पीते होंगे। दिल्ली के अचरज से उबरने पर पूछा, "बाबू, तुम्हारे इहाँ कहा रोजिगार होत ऐ?"

मैंने कहा, "चलो-चलो, इक्का चलाओ।"

इक्का चल ही रहा था, और चल पड़ा।

"बाबू, धिल्ली में मोगल के बादशाह रैत हते। वोई धिल्ली! यआँ किल्ला ऐ?"

मैंने कहा, "हाँ, वही दिल्ली। और वहाँ किला है। और वहाँ चाँदनी-चौक है।"

"चाँधनी-चौक !"

"खूब चौड़ी, पक्की, हमवार सड़क है। ट्रामें चलती हैं। बड़ी रौनक़ है। तुमने नहीं देखो ?"

"बाबू, हमारे चौक से बढ़िया ऐ ?"

"अरे, दुनिया में एक है।"

"अच्छा !" और वह अपने घोड़े की तरफ देखकर बोला, "चल बेटे, शाबाश !"

इस अबोध प्राणी के भीतर दिल्ली के सम्बन्ध में महत्त्व जगा-कर अनुमान हुआ कि मैंने अपना भी महत्त्व बढ़ा लिया है। जैसे सचमुच दिल्ली में रहना मेरी अपनी निज की ऐसी विशिष्टता है कि उसके बल पर अनदिल्ली वालों से मैं अनायास ही बड़ा हो जाता हूँ।...छिः-छिः, मैं सोचता हूँ आदमी आदमी है कि जान-वर है।

मैंने कहा, "भई, हमको बताते चलो कि रास्ते में कौन क्या है, कौन क्या ? हम बनारस में नये हैं। और बनारस जितना पुराना शहर है उतना दिल्ली क्या, कोई भी नहीं है।"

उसने कहा, "बाबू,...!' आगे उसने वाक्य को पूरा न किया, और मैंने अनुभव किया कि बनारस को दिल्ली के आस-पास पहुँचा देखकर बनारस के सम्बन्ध में अधिक उल्लास उसमें शेष नहीं रहता, कुछ लज्जा का भाव ही आ उठता है। "बाबू, बना-रस..." कहकर वह नीची निगाह से अपने घोड़े को देख उठा, और हाँकने लगा।

देखो जी, यह अहङ्कार भी क्या है ! यह मुझको तुम से, या तुमको मुझ से, बड़ा बना देकर ही समाप्त नहीं होता। यह चीज़ों को, शहरों को, नामों को, शब्दों को भी एक-दूसरे के सामने ऊँचा

चढ़ाने और नीचा गिराने की चेष्टा करता है। मैं मैं हूँ, इसलिए, तुम से बड़ा हूँ। इसलिए मेरा कुर्ता भी तुम से बड़ा है। इसलिए मेरी गाली भी तुम से बड़ी है।....इस अहङ्कार की हद नहीं!... बुरी बला है यह, एक आफत।

पास ही एक बढ़िया-सी कोठी दिखाई दी, और सचेत होकर इक्के वाले ने कहा, "बाबू, ये इण्डियन परेस है।"

मैंने मन में दोहराया, "इण्डियन प्रेस!"

"बाबू, छापेखाना है। किताबें छपत हैं।"

मुझे यह धृष्टता उसकी अच्छी नहीं लगी कि मुझी को समझाने बैठता है, प्रेस क्या चीज़ होती है। मैंने कहा, "इक्के को बढ़ाओ जल्दी से, देर हो रही है।"

इक्का बढ़ा और मैंने सोचा, "इण्डियन प्रेस! खूब तो चीज़ है। वही न जहाँ ज्ञान धड़ाधड़ कल पर छपता है, जिल्दों में बँधता है और जहाँ फिर उसके खूब दाम उठा लिये जाते हैं! नया-पुराना, हल्का-भारी, स्कूली-अस्कूली, शास्त्रीय-अशास्त्रीय,—सब प्रकार का ज्ञान पक्की मज़बूत जिल्दों में सिलकर, बँधकर, एजेन्सियों में पहुँचता है और परीक्षा की मार्फत डिग्रियों के और ज्ञान के भूखे जनों को ऐसे सुभीते से मिल जाता है जैसे घाव वालों को हर अस्पताल से मरहम का फाया। इस प्रकार ज्ञान का वितरण होता है, पुण्य का अर्जन होता है और धन का सञ्चय होता है और इस अर्जन-संचय के मार्ग में, ज्ञान नामक पदार्थ के व्यवसाय-द्वारा कोटि-कोटि संपादक, लेखक आदि, उक्त पदार्थ की उत्पत्ति के श्रमी-जन, सहज रूपसे पल जाते हैं। और वह कलें बिजली के जोर से ऐसी भूत की तरह चलती हैं कि उनके पेट भरने के लिए अपरिमित ज्ञान को उगते रहना ही चाहिए। कहीं न कहीं से मज़दूर लोग खोद-खोद कर ज्ञान लायें, उगलें, उड़ेलें, कि जिससे कल चलती रहे, और उसमें लगा रुपया आमदनी देता रहे। और ज्ञान बढ़

रहा है, पत्रिकाएँ निकल रही हैं, लेख लिखे जा रहे हैं, पुस्तकें तैयार हो रही हैं, उपदेश दिये जा रहे हैं कि पुस्तकें पढ़ो और ज्ञानी बनो; क्योंकि, कल का भूत काम माँगता है और उस भूत का मालिक दाम माँगता है। यह उचित और आवश्यक है। क्योंकि उस मालिक को साढ़े चार लाख की समुद्र-तटपर की एक कोठी पसंद आ गई है।—इसलिए लिखो और पढ़ो।...मैं जानता हूँ, इंडियन प्रेस खूब चीज़ है।"

"बाबू, उधर कौन का कालिज है।"

मैंने कहा, "कौन का कालिज नहीं चाहिए, स्टेशन कितनी दूर है?"

"नजीक ही है, बाबू!"

मन्दिर आये, खेत आये, कहीं बगीचे, फिर धर्मशालाएँ, मकान, घर, एक-एक कर आदमी के सब खेल, सब काम आने लगे। कहीं दो आदमी दीखते, कहीं तीन; कहीं दो स्त्रियाँ, कहीं तीन। लोग जा रहे हैं, काम कर रहे हैं, हँस रहे हैं, कुछ हैं जो रो भी रहे हैं।...गोखले शिल्प-विद्यालय का बहुत बड़ा बोर्ड लगा है, और उसके अधिकारी अवश्य समझते होंगे, उन्होंने जो किया है, उसी में से मनुष्य का और मनुष्य-जाति का उद्धार है।...और पान की दुकानवाली से एक अधिक चूना लगा पान लेकर जो आदमी उसे कोसता हुआ रस लेकर हँस रहा है, वह मान रहा है कि उसे और कुछ नहीं करना है। वह इस पानवाली के पान को और उसकी हँसी को, और उसे, सब-की-सबको, पा सके तो उसे इस दुनिया में और कुछ नहीं पाना रहेगा, वह कृतार्थ हो जायगा।

मैंने कहा, "ठहरो, एक पान ले लें।"

इक्का ठहरा, मैंने कहा, "एक पान तो लगा देना।"

उसने बिना मेरी ओर देखे पान तैयार करना आरम्भ कर

दिया। वह अपने उसी छैला को देख रही थी जो उसे देख रहा था और मुस्करा रहा था।

मैंने देखा, "वह तो गँवार है, और मैं बहुत अच्छे कपड़े पहने हुए हूँ, और एकदम सुन्दर हूँ, तब क्या मैं एक निगाह का भी हक़दार नहीं हूँ?"

"बाबूजी, सुरती?"

अब उसने मुझे देखा, वैसे ही जैसे एक दीवार देखे, तसवीर देखे, बिना भाव, बिना चितवन।

मैंने कहा, "नहीं।"

उसने कहा, "सुरती नहीं?"

रास्ता चलते इक्के से उतर कर जो उसकी दुकान पर पान लेने आया है वह सुरती नहीं खायगा, इस पर उसे जैसे विश्वास नहीं हुआ, अचरज हुआ।

मैंने कहा, "नहीं।"

मुस्कराने से वह अब हँस पड़ी। जैसे मैं उसके सामने शून्य हो गया, बस वह छैला रह गया; और एक नई यह खबर रह गई कि एक आदमी ऐसा भी है जो पान माँगता है पर सुरती नहीं खाता। और वह हँस पड़ी। मेरी समझ में नहीं आ सका कि यह दुकान-वाली औरत जो इस अकर्मण्य असुन्दर युवक के सामने इस प्रकार सहज प्राय और सस्ती होकर अपने को प्रकट कर रही है, वही मुझ, जैसे सुपात्र युवा के सम्बन्ध में एकदम ऐसी संयम-शील किस भाँति है, कि मेरे अस्तित्व तक से बेखबर है।

मैंने कहा, "बहुत हँस रही हो!"

वह खिल-खिला कर हँस पड़ी। बोली, "बाबूजी, बाहर रहते हो कहीं? यह जो आदमी खड़ा है, एक ही बदमाश है इस शहर में। मुझे रोज छेड़ने को आ पहुँचता है। बाबू, तुम जाओ मत कहीं, मुझे इससे बचा दो।"

और वह बेतहाशा हँस पड़ी, और युवक भी जोर से हँसा। मुझे भी हँसी-सी आई। पर मन में खीझ भी थी। देखो, इस आदमी के बहाने यह मुझसे अपना सम्बन्ध समझ सकती है और बना सकती है; यों इसके नजदीक जैसे मैं आदमी तक नहीं हूँ। मैंने जल्दी से अपना पान लिया, पैसा फेंका और इक्के पर आ रहा। कहा, "जल्दी चलो, जल्दी।"

फिर, जहाँ-तहाँ दुकाने आईं, पेड़ आये, घर आये, खेत आये।

मैंने सोचा—यह क्या मामला है? मैं इक्के पर बैठ कर चला जा रहा हूँ और दुनिया को मुझसे मतलब नहीं है। इक्के वाले का मतलब है, और वह यह कि स्टेशन पहुँचूँ और तीन आने थमाकर मैं अपनी राह पकड़ूँ। उस पानवाली के सामने मैं शून्य से गया बीता सिद्ध हुआ। अपने बच्चे के सामने मैं ही बाबूजी हूँ; और अपनी पत्नी के सामने पुरुष मैं ही हूँ। कहीं तुम अपने को, अपने में; सारी दुनिया पाते हो। दूसरे क्षण पाते हो, तुम दुनिया के निकट एक शून्य जैसा बिन्दु भी नहीं हो। संयम-असंयम क्या है? वह पानवाली उस भद्दे युवक के सम्बन्ध में अपने को सर्वथा संयम की आवश्यकता से दूर, अलग, बना सकी; तभी तो यह सम्भव हुआ कि मेरे विषय में वह ऐसी संयमशील हो उठे कि मेरी उपस्थिति तक की चेतना उसमें न जागे! मैं पुरुष हूँ, यह तक भी बोध उसे न प्राप्त हो। माहात्म्य सती का ही सुना है, कुमारी ब्रह्मचारिणी की महिमा सुनने में हमारे नहीं आई। और, पत्नी हो, तभी तो कोई सती होती है। सती होने के लिए क्यों पत्नी होना आवश्यक है? जो पत्नी बन सकी ही नहीं, वह क्या फिर सती भी नहीं बन सकेगी? इसका क्या उत्तर है, इसमें क्या तथ्य है? मीरा ने अपने को कृष्ण की चेरी बनाया, कृष्ण से यह सम्बन्ध स्थापित किया जहाँ मर्यादा की कोई रेखा नहीं रह गई, संयम का ध्यान ही नष्ट हो गया। क्या इसी का यह परिणाम न था कि वह

अपने जीवन-भर, किसी भाँति न समझ सकी कि वह व्यक्ति, जिसके साथ लोग कहते हैं उसका ब्याह रचाया गया था, और लोग कहते हैं जो उसका पति है,—उसका पति या उसका कोई भी कुछ कैसे हो सकता है ? कृष्ण की पत्नी बनकर, अपना सब कुछ कृष्ण का बनाकर, उसने मानो दुनिया के अस्तित्व को ही अपने सामने से मिटा दिया। पर...रेल का स्टेशन कहाँ है, कितनी दूर है ?...

मैंने, कहा "क्यों रे, स्टेशन नहीं आया ?"

बोला"बाबू, जेइ मोड़ पार अस्टेसनई है।"

मैंने देखा—ईसाइयों का मिशन है, बौद्ध भिक्खुओं का भी कुछ है, और वहीं नीचे एक लोहे के थाल में मक्खी उड़ाता हुआ जो मूँगफली बेच रहा है, उसका एक लड़के से झगड़ा मचा है। और एक दर्जी की दुकान है, एक सोडावाटर की दुकान है और क़तार में कई दुकानें हैं। और एक जगह पाँच-सात कुली इकट्ठे होकर सुल्फे का एक-एक दम लगा रहे हैं, और जो एक ओर सड़क पर पाँच-छः ईसाई मिसें जा रही हैं, उन्हें देखते जाते हैं। और कुछ कालिज के लड़के अमरीकन कॉलर की कमीज़ों में बेंचों पर बैठे लेमन पी रहे हैं। एक के हाथ में टैनिस का बल्ला है, दूसरे के में हॉकी। स्टेशन अब आया।

इक्के वाले ने इक्का थमाकर कहा, "बाबू, कुली··"

मैंने कहा, "हाँ कुली..."

दो-तीन कुली दौड़ आये और लड़ने लगे। आखिर, एक ने बिस्तर उठाया, एक ने ट्रंक।

"बाबू, डौढ़ा दरजा ?"

मैंने देखा, मैं इन कुलियों को यह नहीं कह सकता, कि चौथा

दरजा नहीं है, इससे तीसरे में बैठता हूँ। इसे ये लोग 'एप्रिशियेट' नहीं कर सकेंगे। मैंने कहा—

"ड्योढ़ा !—हाँ;—नहीं,—तीसरा।"

और जब तक भीड़ को चीर कर अपनी राह बनाता हुआ टिकट की खिड़की पर पहुँचता हूँ, पाता हूँ, बटुआ साफ़ गायब है।

मैंने कहा, "चलो, यह भी ठीक।"

पानवाला

चाँदनी-चौक की एक दूकान पर बैठा कुछ खरीद कर रहा था कि आवाज़ सुन पड़ी, "प्वाइन बिनारिस !"

आवाज़ सुरीली थी, उसमें रस था। मैंने मुड़कर देखा। देखता हूँ कि एक मोटर से एक भद्र पुरुष उतरे हैं, तीन महिलाएँ उनके साथ हैं, जिनमें दो नवीन हैं, एक प्रौढ़ हैं, और एक पान वाला हाथ में पानों की थाली लेकर उनके पास पहुँच कर कह रहा है "आला पाइन, बिनार्सी पाइन !"

वे लोग तनिक इस आतिथ्य-भेंट पर रुके। क्षण भर रहकर उन नवीनाओं को हँसी छूट आई और आपस में हँसती-हँसती वे दोनों आगे बढ़ गईं। प्रोढ़वया महिला और वयस्क पुरुष भी आगे चल दिये।

पानवाला मुड़कर फिर फुटपाथ पर आ गया और डोलने लगा। उसी अदा की आवाज़ देता जाता था, "प्वाइन बिनारिस आ' ला पाइन, बिनार्सी पाइन !"

पैसे देकर मैं पान नहीं खाता। पर पान खाने का सवाल नहीं था। मैंने कहा, "ओ बनारसी पान।"

सुनकर तपाक से वह मेरे सामने आ गया।—"आ'ला पाइन, बिनार्सी पाइन !"

मैंने देखा, पानवाला खूब है। बढ़िया बारीक गाढ़े का सफेद कुर्ता पहने हैं। उससे मेल खाती हुई धोती। पैरों में नफीस हल्के पंजाबी जूते हैं। टोपी करीने के साथ ऐन कोण पर रखी है, जिसमें से दाईं ओर टेढ़े-मेढ़े कढ़े बाल कुछ दीखने के लिए निकले हुए है, मूछें बारीक-बारीक कटी हैं, हजामत बहुत साफ है। आँखों में सुर्मा है, ओठों पर ढंग की पान की गहरी लाली है। हाथ में जो थाली है, चाँदी की है। उस पर चाँदी के वर्क लगे पान सलीके से चिने हैं। कुछ बहुत बढ़िया शीशियाँ कतार में रखी हैं। थाली के बीचों-बीच ऊपर एक बिजली की बत्ती लगा रखी है, वह चाँदी के कमानीदार तारों से थाली पर टिकी रहती है।

यह सब देखकर हँसने को जी चाहा।

मैंने कहा, "देना एक पैसे का पान।"

उसने चाँदी की एक सलाई उठाई, पहले एक शीशी में डाली फिर दूसरी में, उसे पान के एक बीड़े पर फेरा, और उसी सलाइ से उस बीड़े को उठाकर पेश कर दिया।

मैंने कहा, "यह क्या किया ?"

उसने कहा, "हुजूर इत्र है, मुलाहिजा हो।"

मैंने बीड़ा लेकर मुँह में दे लिया। पान नहीं खाता तो क्या, खाना जानता हूँ। पान उम्दा था। मेरे ख्याल में पानवाले के हक में यह नफे का सौदा नहीं है। क्या यह सजधज इस पान के सौदे के ऊपर वह रख सकता है ?

मैंने कहा, "अच्छा एक बीड़ा और लगा।"

उसने उसी भाँति एक बीड़ा लगाकर सामने पेश कर दिया।

कुछ बच्चे आसपास जमा हो गये थे। पानवाला ठहर-ठहर कर कहता रहा, "आ'ला पाइन, बिनार्सी पाइन !"

मैंने दो पैसे देते हुए कहा, "दिन में कितना कर लेते हो ?"

बोला, "जी, आपकी मेहरबानी से गुजर हो जाती है।'

मैंने कहा, "अच्छा, हम रोज़ तुम्हारा पान खाया करेंगे। अच्छी लज्ज़त देता है।"

मैं हँसता जाता था।

उसके ओठों के वक्र में जैसे धन्यवाद था। वह भी मुस्कराता-सा था।

उसने एक बार कहा, 'प्वाइन बिनारिस' और जब देखा कि कोई गाहक नहीं है, आगे बढ़ लिया।

ख़रीद के बारे में ज़रा शिथिल होकर मैं इस पानवाले के तमाशे को देखने लगा। जिधर से जाता था, एक बार तो राह चलता आदमी भी आवाज़ सुनकर इसे देखने लग जाता था। मैंने देखा, जहाँ किसी अच्छे कपड़े वाली स्त्री को देखता है वहीं पहुँच कर और भी अदा से कहने लगता है, "प्वाइन आ'ला प्वाइन!" मोटर में यदि एक भी स्त्री हो, उसके पास पहुँच जायगा, कहेगा, "बिनारसी प्वाइन!"

मुझे बड़ी हँसी आई। बहुत बुरा भी लगा। मन में सोचा, बड़ा शरारती आदमी है। फिर ठहर कर सोचा, जान पड़ता है, बड़ा भूखा है। नहीं तो निर्लज्ज होकर ऐसा न करता फिरता।

मेरे देखते-देखते फिर वह इधर-उधर न जाने किधर ओझल हो गया। मैं भी घर चला आया।

: २ :

मैं रईस नहीं हूँ। पर जँचाव बुरा नहीं रखता। ऐसा भी क्यों रहा जाय कि लक्ष्मी आए भी तो डर के भाग जाय। लक्ष्मी-पति नहीं हूँ इसी से ऐसा रहना पड़ता है कि लक्ष्मी आए तो लुभाकर

मुझे पसन्द कर ले। लक्ष्मी का पति हो जाने पर दूल्हा बने फिरने की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

शायद इसी से हो कि जब चाँदनी-चौक में पहुँचता हूँ तभी पानवाला मुझे पा लेता है। जाने मेरी ताक लगाता रहता है क्या? पाँच-सात पान उसके क्या लिये कि समझता है, रोज ही पैसा बर्बाद करूँगा। लेकिन जब वह सामने आकर सलाई से पान उठाकर मुस्कराता हुआ कहता है, 'लीजिए बाबूजी,' तब इन्कार नहीं किया जाता। यह पैसा पान का नहीं, मैं तमाशे का देता हूँ। मुझे इस पानवाले का बड़ा तमाशा मालूम होता है। कभी मैं उसमें अन्तर नहीं देखता। हर रोज वैसा ही झक साफ कुरता रहता है, किसी भी दिन ज़रा भी मैला नहीं रहता; उतनी ही साफ उसकी हजामत रहती है, और ठीक उतना ही बारीक कटी हुई किनारा-साफ मूँछें। और खूब चमचमाती चाँदी की थाली।

मैंने उसका सदा यही हिसाब देखा। इक्का-दुक्का सुपरिधानित स्त्री कहीं भी देख पाएगा तो पहुँच जाएगा और मुस्कराकर पान पेश करेगा। मुझे यह बुरा लगता है। लेकिन जब मेरे सामने आकर वह मुस्कराता है तो उसमें दोष मुझ से नहीं निकाला जाता। जैसे उस समय वह मुस्कराहट मुझे बुरी नहीं मालूम होती।

एक दिन मेरे साथ मेरी पत्नी, एक बहिन और विवाह-योग्य वयकी एक मेरी भतीजी, ये सब थीं। चाँदनी-चौक में उन्हें कुछ सामान लेना था। एक दुकान, दो दुकान, चार दुकान,—दुकानें देखते-देखते मैं थक गया। पर इन लोगों को कोई चीज़ ही पसन्द नहीं आई। दुकानदार यह दिखाए, वह दिखाए, भाँति-भाँति की चीज़ों का ढेर-का-ढेर सामने रख दे, पर वे सब-की-सब खराब निकलें; किसी का रंग गहरा हो जाय, किसी का ज्यादा हल्का; इसमें यह हो जाय तो उसमें कुछ; और चीज़ जँचने के नज़दीक

आए तो कीमत उसकी अधिक निकल पड़े। मैंने कहा, "तुम लोग घूमकर देख लो। मैं उस खद्दर-भण्डार पर मिलूँगा। वहीं आ जाना।"

उन सबने इसे प्रसन्नता से स्वीकार किया। बला टली, और मैं खद्दर-भण्डार पर अपने अपने मित्र के पास आ बैठा।

एक घण्टा हो गया, दो घण्टे। पानवाला आकर लौट गया। वे आईं नहीं! दिन-भर बैठे गप थोड़े ही लगाई जा सकती हैं। इतवार है तो क्या, घर पर और भी काम हैं। यहाँ जैसे अनगिनत घण्टे मैं यों ही उनकी प्रतीक्षा में बैठा रहूँगा! उकता कर मैं उनकी तलाश में चला। पर चलता ही हूँ कि दीखा, वे तो वे आ रही हैं। दूसरी ओर के फुटपाथ पर हैं, अब इधर आने के लिए मुड़ना चाहती हैं। सामान के छोटे बंडल सब के पास बटे हुए हैं। चलो, झगड़ा मिटा, इनकी सौदागरी तो खत्म हुई। वे मुड़कर चाँदनी चौक की बीच सड़क पर आई नहीं, कि देखता हूँ पानवाला कहीं से आकर उनके सामने जा पहुँचा है। वह रुक गई हैं।

मेरे कान में जैसे आवाज़ आई, "प्वाइन बिनारिस। ब... आइला प्वाइन बिनार्सी प्वाइन!" मैंने गोया यह भी देखा कि वह उन अपनी सुर्मा लगी आँखों को ज़रा-ज़रा झपा कर ओठों क किनारों से हँस रहा है। देखता हूँ कि सलाई से बीड़ा उठा कर उसने मेरी भतीजी को दिया है, और उसने लिया है।

मैं तैश खाता हुआ चला। पास पहुँचकर मानो उस सब मण्डली को चेतावनी देते हुए बोला, "क्या है?"

पानवाला उसी तरह मानो मुग्ध प्रेम से मुस्कराता हुआ मेरी ओर मुड़ा। मैंने कहा, "क्या है?"

मेरी बहिन ने कहा, "एक पान हमें भी दो।" लगभग साथ ही मेरी पत्नी ने कहा, "एक मुझे भी देना।"

भतीजी ने पान की पहली पीक थूकते हुए कहा, "चाचाजी,

तुम भी ले लो एक, बड़ा अच्छा है। एक और लगा देना, भई।"

मैंने कहा, "नहीं; मुझे नहीं लेना..."

पानवाले ने पान तैयार करते-करते मेरा जवाब सुनकर मेरी ओर देखा, मानो वह मेरी अनुदारता पर विस्मित है।

मैंने कहा, "और तुम लोगों ने इतनी देर लगा दी! घर नहीं चलना है क्या? ले-लाकर खतम करो, जल्दी चलो।"

बहिन ने इत्र लगते हुए पानों की तरफ देखते हुए कहा, "चलते हैं।"

मैंने कहा, "चलती क्या हो, चलो।"

उन दोनों के पान लेने पर मैं फिर नहीं ठहरा। सीधा चल कर घर आया।

मैंने तै कर लिया, मैं पानवाले से बिलकुल सम्बन्ध नहीं रक्खूँगा। कभी उसका पान नहीं खाऊँगा। कम्बख्त इतनी हिम्मत रखता है! भूखा है, तो इस तरह नदीदी आँख कहीं-कहीं डालता फिरेगा। और इन्हें भी तो देखो, इन्हें उसका पान बड़ा स्वादिष्ट लगता है!

शान्त घण्टों में जब सोचता हूँ तो इसमें तो मुझे सन्देह नहीं रह जाता कि वह बिचारा भूखा इतना है कि भोज्य सामने देखकर अपनी दृष्टि को थामा उससे नहीं जाता। वह क्या करे? भूख असह्य हो जायगी तो भूखा चुराए बिना कैसे रहेगा? और बाहर भूख मिटाने के सामान न करके जो सरकार जेलखाने खड़े करेगी, उनके अन्दर ले जाकर सही, भूखे की भूख तो मिटानी ही पड़ेगी। नहीं तो भूखे की भूख उसी को खा जायगी।

लेकिन, जब अपने सम्बन्ध की अपेक्षा उस पानवाले की निगाह की याद आती है, तो जी में आता है उसकी आँख फूट जाय।

अब के चाँदनी-चौक में गया तो वह पानवाला उस तरह

बिन-माँगे पान उठाकर सामने न पेश कर सका। उसने पूछा, "पान दूँ, बाबूजी ?"

मैंने उसकी तरफ देखकर भर्त्सना के स्वर में कहा, "नहीं।"

वह मुस्कराता न रह सका। पर आँखें मानो अब भी उसकी रस से भरी रहीं। उसने कहा, "बाबूजी, आज बिना पैसे का ले लीजिए।"

मैंने गुस्से से कहा, "नहीं लेते। कह दिया एक बार। अब तुम जाते क्यों नहीं ?"

उसने कहा, "बाबूजी, नाराज़ हो गये ?"

मैंने कहा, "नाराज़ हो गया, मैं पान नहीं लेता। बस, तुम जाओ !"

वह चला गया।

: ३ :

जिन ऋषियों के क्रुद्ध दृष्टि-निक्षेप से आग लग जाती थी, वह जाने कैसे होते होंगे। मेरा क्रोध तो उस पानवाले को शरारत से बाज़ नहीं ला सका।

उस दिन मेरे तन में आग लग गई, जब मैंने उसे अपने घर के दरवाजे पर देखा। ऊपर से मेरी भतीजी झाँक रही थी, आसपास भी तमाशा देखने शौकीन खड़े हो गये थे, और वह पान तैयार कर रहा था। मेरे देखते-देखते उसने तैयार करके तीन-चार बीड़े एक पास खड़े लड़के को दिये और कहा, "बेटा, इन्हें ऊपर दे आओ।"

मैं जल्दी-जल्दी घर में प्रविष्ट हो गया। इस पानवाले ने जो मुझे देख प्रसन्न होकर कहा, "बाबूजी आ गये", सो मैंने जैसे सुना नहीं। उस पान लिये हुए लड़के से पहले ही धम-धम ऊपर पहुँच कर पुष्पा को बुलाकर कहा, "पुष्पा, यह क्या है ! यह यहाँ

क्यों आया है ? किसने आने दिया है और किसने पान लिये हैं ?"

पुष्पा ने कहा, "यह तो बहुत देर का इस गली में आया है। यहाँ से दो-तीन बार घूम गया है।" आखिर, हार कर, बुआ ने कहा, "चार बीड़े पान ले ले, बिचारा बड़ी देर से हैरान हो रहा है।"

मैं अब क्या करूँ ? मैंने कहा, "नहीं, उसकी यहाँ कुछ ज़रूरत नहीं है।"

पुष्पा ने कहा, "वह आपको पूछता था। आपके ही वास्ते, कहता था, इतने वक्त से घूम रहा है।"

मैंने कहा, "मेरे लिए घूमता था ! बदमाश बातें बनाता है।"

लेकिन कुछ देर में मैं नीचे बैठक में पहुँच गया। सोचा, देखूँ, बदमाश मुझ से किस काम का बहाना बनाता है।

उसने कहा, "पान ले लीजिए, हुजूर !"

मैंने कहा, "पान नहीं लूँगा, काम बताओ।"

उसने कहा, "हुजूर, आपका घर देखने आया था।"

मैंने कहा, "घर देखने आया था ? नहीं, कोई काम नहीं है घर देखने का। अब कभी इधर मत आना, समझे।"

उसने कहा, "गलती हो गई हो तो माफ कर दें। मुझ पर नाराज़ न रहें।"

"मैंने कहा, नहीं, तुम यहाँ मत आना।"

वह इसी प्रकार कहता रहा कि मुझे उस पर नाराज़ न होना चाहिए। उसे माफ कर देना चाहिए। वह मेरे पैरों पड़ सकता है, और घर-भर के पैरों में पड़ सकता है।

मैं जानता था, यह सब चालाकी है। जानता था कि अपना क्रोध मुझे कम नहीं करना चाहिए, आदमी यह बहुत ही बदमाश है। लेकिन क्रोध उस तरह प्रचण्ड रह सका ही नहीं। जाने क्या था उसकी मुद्रा में जो द्रव था और द्रावक था। उन सुर्मे लगी

डोरीली, शराबी की-सी आँखों में ही जैसे कुछ ऐसी दीनता का रस था जो उठती-उठती ग्लानि को दबाकर उसे कुछ सकरुण बना देता था। मानो ऊपर जो फैला कर कामुक बेहयाई बिछाई हुई है उसके भीतर ढका हुआ लजीला और रसीला स्नेह चिररुद्ध, सुषुप्त, फिर भी मानो चिरातृप्त, सजग चुपचाप पड़ा है।

उसने कहा, "बाबूजी, यह बीड़ा ले लीजिए, तब मैं जानूँ आपने माफ कर दिया।"

मैंने यही कहा कि उसे इधर सद्‌गृहस्थों के मकानों की ओर नहीं आना चाहिए और मुझे पान खाने की आदत नहीं है।

उसने भी कहा कि वह अब नहीं आवेगा सिर्फ मकान देखने के लिए आया था, जिससे ज़रूरत पड़ जाय तो फिर आ सके। कुछ दिनों में वह दिल्ली छोड़कर ही जाने वाला है।

फिर मेरी उससे और भी बातें हुईं।

कहाँ जायगा, यह मालूम नहीं है। जायगा किसी बड़े शहर में ही। यहाँ किराये की एक कोठरी में रहता था। दो महीने यहाँ रह चुका है। आवारा है। कोई उसके नहीं है। यहाँ नाम मालूम करके पूछता-पूछता चला आया था। मेरा नाम भी बताया—हरिशंकर एम. ए.। किसी खास मतलब से नहीं आया था, यों ही आ गया था। पान के काम में उसे नफा नहीं है। वह और काम नहीं कर सकता। बस, कर सकता ही नहीं है। जानता भी नहीं है, तबीयत भी नहीं है। कुछ रुपया है उसके पास, वह इस काम में खो जायगा तो खो जाने दो। खर्च वह इतना कम करता है कि बीस साल तक गुज़ारा करने में उसे दिक्कत नहीं होगी। ऐसा साफ वह इसलिए रहता है कि रहना पड़ता है। पानों से पान के खर्च के लायक पैसे निकल आयें तो यह बहुत है। वह और कुछ चाहता भी नहीं है।

मैंने इतनी बातें इसलिए कर लीं कि वह अब दिल्ली छोड़कर जा रहा है ही, और वहाँ न आने का वचन दे चुका है। आयगा तो मैं इसकी मरम्मत करवा दूँगा। पर आ नहीं सकेगा। ऐसी हिम्मत इस आदमी की मालूम नहीं देती और इन बातों में झूठ बोल रहा हो, ऐसा बिलकुल नहीं मालूम होता।

वह दो-तीन बीड़े मेरे यहाँ छोड़कर चला गया। मैंने बहुतेरा कहा, पर वह माना ही नहीं। बहुत कहा तो कहने लगा, "इन्हें यहीं पड़े रहने दीजिएगा, सूख जायँगे। आपका कुछ हर्ज नहीं करेंगे। हर्ज करें तो फेंक दीजिएगा।"

इसका उत्तर मैं क्या दे सकता था। खाने तो मुझे थे नहीं, ज्यादा बढ़कर फेंक देना भी ठीक नहीं होता। वापिस वह लेता था नहीं। मैं रखने को लाचार हो गया। शुरू में तो पैसे लेने से उसने इन्कार किया, लेकिन फिर पैसे ले लिये और चला गया।

: ४ :

हमारे घर में कभी-कभी 'प्वाइन बिनारिस' का ज़िक्र आ उठता था, और हम लोग उस पर जी खोलकर हँसते थे। उसकी चाल-ढाल, रहन-सहन पर भी खूब विनोदपूर्ण आलोचना हुआ करती थी। इस तरह के काम में तो उसकी याद काम आ जाती थी, विशेष मुझे उसका कुछ स्मरण नहीं रह गया था। उसकी जरूरत ही क्या थी? समय के प्रवाह में वह बात आई-गई होती जाती थी। जैसे राह चलते कभी एक तमाशा दीख गया था,—एक मिनट खड़े होकर हमने देख लिया, और फिर आगे बढ़ते चले आये। वह अशुभ ग्रह की भाँति फिर कभी हमारे रास्ते आयेगा और उसको काटता हुआ अपनी राह चला जायगा, ऐसी दुराशा हमें न थी।

एक रोज़ बड़े तड़के देखें कि वह मौजूद! मैं आवाज़ सुनकर

नीचे आता हूँ तो अचरज में रह जाता हूँ। शकल उसकी वही है, पर पहचाना नहीं जाता। मैले-कुचैले कपड़े पहने हैं, धोती घुटने से नीचे नहीं पहुँच पाती। टोपी का भी कुछ ठीक ठिकाना नहीं है।

उसने कहा, "बाबूजी पहचाना नहीं ?"

मैंने कहा, "पहचाना। पानवाले हो। पर यह क्या हाल है !"

उसने कहा, "बाबूजी, हाल कुछ नहीं है। मैं अभी लाहौर-अमृतसर से आ रहा हूँ। अब दक्खन की तरफ जाऊँगा। घण्टे डेढ़-घण्टे में उधर की गाड़ी जाती है। आपसे एक ज़रूरी काम है, इससे चला आया।"

मैं बड़े असमन्जस में पड़ गया। ऐसे वक्त, ऐसी हालत में, यह अपना ज़रूरी काम लेकर मेरे पास चला आ रहा है, जाने यह क्या नया बवाल है। मुझसे इस आदमी का क्यों कोई काम होना चाहिए। कहा, "क्यों, पान का काम छोड़ दिया क्या ?"

उसने आश्चर्य से कहा, "नहीं जी, छोड़ क्यों दूँगा ? छोड़ कैसे सकता हूँ ?"

"फिर कुछ बहुत नुकसान टोटा तो नहीं आ गया ?"

उसने कहा, "ऐसा बहुत टोटा भी नहीं आया। फिर कोई बहुत नफे के लिए मैं थोड़ा ही करता हूँ ?"

जाने कैसी बात करता है यह। मेरी कुछ समझ में नहीं आया। ऐसी दुर्गति में फिर यह क्यों है ? पूछा, "फिर क्या बात है ?"

बोला, "बात जी, कुछ नहीं है। मैं आपके पास एक बड़ी विनती लेकर आया हूँ। बस और कुछ बात नहीं है।"

मैंने समझा, अब बला आई। ज़रूर कुछ रुपया-पैसा माँगेगा। ऐसी हालत में इन्कार भी कैसे किया जायगा, और इसे दे भी

कैसे कुछ सकूँगा। मैंने कहा, "तुम्हारा पान-वान का सामान कहाँ है ?"

"वह सब है जी, वहीं रेल में रखा है," वह बोला। साथ ही एक छोटी गठरी-सी खोलता जाता था। "बाबूजी, मुझे और कोई नहीं मिला। मेरा मन हारता जा रहा है। बाबूजी, मुझे आपका भरोसा है। मैं इतनी दूर से इसीलिए आ रहा हूँ।..."

गठरी खोलता जा रहा और बात करता जाता था। मैं मन में सशंक हो रहा था। कैसी निर्विघ्नता के साथ मुझ पर इसने भरोसा कर लिया है! पर मैं कुछ नहीं दे सकूँगा। खूब भरोसा करने वाला ठहरा! उसकी बेतुकी बातों को ख़त्म कर मैं छुट्टी ले लेना चाहता था। कहेगा, यह हो गया, वह हो गया, कुछ मदद कर दीजिए। मैंने कहा, "मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सकूँगा, समझे ?"

उसके गठरी खोलते हुए हाथ ढीले हो गये। मानो याचना आँखों में भर आई।

"बाबूजी, ना मत करो। मेरा दम हारता जा रहा है। कै बरस और रह सकूँगा, कौन जानता है। फिर मैं किसे और ढूँढता फिरूँगा ? बाबूजी, हाथ जोड़ूँ, ना मत करो। मैं बहुत-बहुत आपका जस मानूँगा।"

मैंने देखा, अभी यह चालीस बरस का न होगा, कैसी बात कर रहा है। जीवन से ऐसा हिरास हो गया है कि मौत की बात करता है। मैंने कहा, "फिर बात क्या है, कह भी तो कुछ।"

उसने फिर गठरी खोलनी आरम्भ कर दी और साथ-साथ बोलने भी लगा, "अब और बहुत जगह नहीं जाऊँगा। घूमते-घूमते सात साल हो गये। अब ५-७-१० जगह और देखनी हैं। फिर करम में जो होगा—"

गठरी उससे देर में खुली। खोल कर कपड़ों की तह की भी तह के भीतर कुछ देखने लगा।

देर लगती देख मैंने कहा, "वहाँ भी पान का ही काम करेगा?"

"हाँ जी" उसने कहा, "जिन्दगी के अखीरी दिन तक यह काम करता रहूँगा। हाथ-पैर नहीं चलेंगे, तब छोड़ दूँगा।"

मैंने पूछा, "अब ऐसे भेस से करेगा? पहले तो ऐसा नहीं रहता था।"

उसने कहा, "ऐसे भेस से क्यों करूँगा, पहले से भी अच्छे भेस से करूँगा। ऐसे भेस से पान का काम करना होता तो घूमता क्यों फिरता, बाबूजी!"

मैंने कहा, "तो वह ठाठ उसी वक्त के लिए है?"

लेकिन उसने मेरी बात सुनी नहीं, क्योंकि तभी उसकी इच्छित वस्तु कपड़ों में मिल गई थी। उस डिबिया को खोल कर मेरे सामने करते हुए कहा, "बाबूजी, यह रख लीजिए।..."

मैंने देखा, सोने के चार-पाँच जेवर हैं। नये हैं, और कीमती हैं।

मैंने सोचा, जाने क्या संकट यह आदमी मेरे ऊपर लाने वाला है। मैंने कहा, "बेचते हो इन्हें?—मैं नहीं लेना चाहता।"

"नहीं, नहीं" उसने कहा, "बेचता नहीं। इन्हें बेचूँ तो नरक में जाऊँ। इन्हें आप रख लीजिए।..."

मैंने कहा, "मैं क्या करूँगा इनका?"

वह बोला, "मैं अभी बताता हूँ।"

मैंने कहा, "मैं नहीं रख सकता। पराई चीज़ मैं नहीं रखता। ऐसा ब्योहार मैं नहीं करता।"

उसने कहा, "बाबूजी, रख लीजिएगा तो बड़ी दया होगी। जाने घूमते-घूमते मेरी आँख कब मिच जाय। इन्हें लिये-लिये मैं

कहाँ-कहाँ डोलूँ ? जोखों की चीज़ मुझ ग़रीब के पास अच्छी नहीं। जब जरूरत होगी माँग लूँगा। मेरे जीते-जी या मरने पर ये किसी चोर-उचक्के के हाथ पड़ जायँगी। बाबूजी, ये चीज़ें मैं किसी चोर के हाथ में नहीं पड़ने दूँगा।"

मैंने कहा, "तो मैं इनका क्या करूँगा ?"

"मैं बताता हूँ" उसने कहा और इसके बाद एक औरत का बखान करना शुरू कर दिया। बखान से मैं यह समझ सका कि यह स्त्री पर्याप्त रूप में असुन्दर रही होगी। उसका नख-शिख-वर्णन करके उसने कहा, "इस हुलिया की स्त्री मिले तो उसे दे देना। मुझे मिलेगी तो मैं माँग लूँगा।"

मैंने पूछा, "वह कौन है ?"

उसने कहा, "जी, ये सब चीज़ें उसकी ही हैं।"

मैंने कहा, "हैं तो, पर वह तुम्हारी कौन है ?"

वह इस प्रश्न के लिए जैसे तैयार न था।

उसने कहा, "मेरी ? मेरी, जी वह कोई नहीं है।"

उसकी इस बात का कोई विश्वास कर सकेगा, यह वह कैसे समझ सकता था। मैंने बतला दिया कि सब-कुछ जान लिये बगैर मैं चीजें रखने के लिए बिलकुल तैयार न हूँगा। वह लाचार हो गया।

लाचार होकर, मैं जानता हूँ, वह निहाल भी हो गया। जिस वस्तु को बरसों-बरस अपने भीतर दुबकाये रखकर, उसको पोसता और सुहलाता हुआ वह भटकता रहा है,। हृदय में से फाड़ निकालकर उसको वह हर किसी की उत्सुक दृष्टि के सामने लाकर कैसे रख सकता था ? लेकिन क्या वह, सच, नहीं चाहता कि किसी मानवी हृदय के सामने ऐसा करना ही पड़ जाय ? क्योंकि तब दूसरे हृदय की सहानुभूति की हल्की-सी गर्मी पाकर उसके हृदय की पत्थरकी-सी जम कर बैठी हुई वेदना द्रवित होकर आँखों की

राह कुछ भर तो जा सकेगी। उसे तब कुछ आराम मिलेगा। उस पत्थर को दिल में रखकर जो बाज़ार में उसे हर आते-जाते स्त्री पुरुष के सामने हँसते रहना पड़ता है, उस बेदर्द व्यापार से उसका जी भरकर ऐसा भारी हो आया है कि कहीं कुछ आँसू ढालकर हलका हो रहने के लिए व्याकुल है।

वह बहुत देर तक कहता तो रहा कि वह उसकी 'कोई नहीं है, कोई नहीं है,' किन्तु जब उसे कहना ही पड़ गया, तब नदी के रुके हुए वेग की तरह फूटकर वह बह निकला। मैं भी उस समय सँभल न सका !

मैं आपको कष्ट देना नहीं चाहता। इसलिए, उस बात को आवेश से और भाव से हीन करके इतिहास के सत्य की भाँति कोरी-कोरी सुना दूँगा।

वह स्त्री उसकी ब्याहता थी। वह बनारस के पास एक गाँव में रहता था। वैश्य है, मामूली तौर पर सम्पन्न था। अपने सादा ढंग से रहता था। स्त्री बड़े घर की नहीं थी, मामूली थी, इसलिए, उसके जी में अच्छा खाने-पहनने का चाव बहुत था। उसके पति का चलन बदलने में न आता था। वह इन बातों को अच्छा नहीं जानता था, पर स्त्री को बड़ा प्यार करता था। उसी गाँव में था एक पनवाड़ी। वहाँ से घर में पान आया करते थे। जब पनवाड़ी ने जाना कि पति पान नहीं खाता, पत्नी ही पान मँगाया करती है, तब एक दिन उसने चाँदी का वर्क लगा पान भेजा। पानवाला खूब सजावट से रहता था। आरम्भ इस तरह से हुआ, अन्त यह हुआ कि पत्नी एक रोज घर में न पाई गई। पानवाले का भी गाँव में पता न मिला। जेवर सब ले गई थी, दुर्भाग्य से ये कुछ रह गये थे। ये उस समय वहाँ न थे। तब से वह जगह-जगह डोलता रहा है। मकान, ज़मीन सबसे छुट्टी लेकर, उन सबको नकद रुपया बना कर जाने कहाँ-कहाँ घूम आया है। पर नतीजा

अब तक कुछ नहीं निकला। अब पाँच-सात बड़े शहर और रह गये हैं। वहाँ भी भाग्य आज़मा लेगा।

इस ठोस घटनामय अस्थिपंजर के ऊपर निरर्थक नित्यप्रति के आपसी राग-प्रेम के व्यापारों से छाया सजीव कलेवर प्रस्तुत करके जो अतीत की वेदना-मूर्ति उसने मेरे सामने खड़ी कर दी थी, उसको आप तथ्य-प्रिय लोगों के सामने रखना मैं उचित नहीं समझता। उसने कहा,

"हाय, मैंने उसे कुछ सुख नहीं पहुँचाया। उस बिचारी के मन के लायक भी मैं अपने को न बना सका। उसे क्यों नहीं मैंने सबकुछ ला-लाकर दिया? मैं उसे सन्तुष्ट नहीं रख सका, तभी तो उसे जाना पड़ा। अब मिलेगी तो उसे कुछ कमी न रहने दूँगा। हाय, बिचारी मेरे आसरे पड़कर आई, और मैं ऐसा निकम्मा कि उसे इतना दुःखी किया कि वह भाग गई। दुख दे-दे कर मैंने उसे निकाल दिया। अब ऐसा नहीं करूँगा। उसी की राजी में चलूँगा।"

उसने बात-बात में मुझसे दो-एक सवाल भी किये। पूछा—

"अब मुझे देखकर वह नफ़रत तो नहीं करेगी? अब मैं खूब अच्छी तरह सुर्मा लगा-लगू कर रहूँगा, क्यों बाबूजी?"

मैंने समझ लिया कि शायद अपनी इसी शंका का समाधान और अपनी इसी योग्यता की मूक परीक्षा कर डालने के लिए वह झट पहुँच कर आती-जाती स्त्री की ओर भाव-भरी आँखों से देखकर मानो निर्णय के लिए याचना किया करता था।

प्रश्न के उत्तर के लिए बहुत ज़िद करने पर मैंने कह दिया था कि अब वह तो क्या, कोई स्त्री देखेगी तो उस पर लुब्ध हो जायगी।

उसने मुझे सर्वज्ञ जानकर यह भी पूछा था कि क्या उसकी स्त्री उसे मिल जायगी?

मैंने अपनी दृढ़ आशा प्रकट की थी। उसकी इच्छानुसार सच्चे हृदय से मैंने उसे आश्वासन दिया था कि मैं उसे ढूँढने में कुछ न उठा रक्खूँगा।

यह सब-कुछ वह अपने रेल के समय होने से पहले कर चुका और वह डिबिया मुझे सौंप कर चला गया।

: ५ :

फिर मुझे उसका कुछ पता न चला। न स्त्री का ही कुछ हाल मिलने में आया।

दो साल बाद जो एक कार्ड मुझे मिला, वह मैंने रखा नहीं। पर वह मुझे याद है। नागपुर से वह आया था। लिखा था—

"मेरा अन्त रोज़ अब पास आ गया है। दो-एक दिन अभी यहाँ धरती पर और रह जाऊँगा। वह आती बाबूजी, तो मैं परमात्मा की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, उसे अब किसी बात की कमी नहीं होने देता। पर वह डरती होगी, इसी मारे नहीं आई। बाबूजी, मैं मिलता तो कहता, तू फिजूल डरती है। कोई उसे मिले तो यही कहे कि वह मूरख है, नाहक डरती है। और यहाँ छिद्दा पंसारी को जो कुछेक रुपये मेरे पास बच रहे थे वह दे दिये हैं। दो सौ से पाँच-सात ऊपर हैं। और एक अँगूठी बड़ी अच्छी मुझे दीख गई थी, वह मैंने ले ली थी। वह भी उसी के पास है। आप जरूर-जरूर खत डाल कर मँगा लेना और लछमनिया मिले तो उसे दे देना। और कहना, तू फ़िजूल डरती थी। कहना, छिः, डरा करते हैं? बाबूजी, इतना काम आप जरूर कर दोगे, इसका मुझे भरोसा है...।"

चिट्ठी पाते ही मैंने अपने एक मित्र को नागपुर तार दिया। उसे छिद्दा पन्सारी का पता लिख दिया और पानवाले को ढूँढ कर उस की यथायोग्य व्यवस्था कर देने को लिख दिया।

छिद्दा ने मेरे मित्र के निकट अपनी सर्वथा अनभिज्ञता प्रकट की। "गङ्गाजी की कसम, मैं कुछ नहीं जानता। किसी ने मुझे कुछ नहीं दिया। पानवाले को मैंने जनम-जनम नहीं देखा।" आदि।

सो, वे चीजें मेरे पास अब भी हैं। पर सोचता हूँ, किसी दीन विधवा को दे दूँ। नहीं तो, बताइए, क्या करूँ?

वह अनुभव

कभी-कभी होता है कि हम अपने से घिरे नहीं होते। मामूली तौर पर यह या वह हमें व्यस्त रखता है। पर चेतना की एक घड़ी होती है कि जब हम जागे तो होते हैं पर रीते भी होते हैं। उस समय जो सच आँख खोले हमें नहीं दीखा करता वही भीतर अङ्कित हो जाता है। जान पड़ता है कि जिन आदमियों ने किन्हीं गहरी सचाइयों का आविष्कार किया है, वह उन्होंने ऐसे ही क्षणों में उपलब्ध की हैं। स्वयं में वे हार रहे हैं और उनका अभिमान उनसे छूट गया है। उस समय मानों वे अपने को कुल का कुल खोलकर बस प्रतीक्षा में हो रहे हैं। कुछ उनको तब उलझाए नहीं रहता। उसी मुहूर्त्त उनके अन्तर-मानस पर सचाई की रेख दीप-शलाका की भाँति खिंच रहती है।

सच एक जगह छोड़कर दूसरी जगह तो है नहीं। वह सब कहीं है। असल में है तो वही है। हम ही अपने-अपने चक्करों में हैं; इससे वही सब जो हम में से हर एक में है, और सब कहीं है, हमें अगोचर ही रहता है। उसमें रहकर भी हम उससे बचे रहते हैं। उसके भीतर होकर हम मुक्त ही हैं, पर अपने में होकर हम खुद ही जकड़ रहते हैं।

ऐसी ही एक बात एक दिन मन पर ऐसे अचानक प्रत्यक्ष हो गई कि उसके नीचे कुछ घड़ी को मन अवसन्न हो गया। उस स्थिति को हर्ष या विषाद नहीं कहा जा सकता है। एक प्रकार की परिपूर्णता की वह स्थिति है। मैं नहीं जानता कि शक्कर की डली यदि मधु में छोड़ दी जाय तो उसमें घुलते हुए उसको कैसा अनुभव होगा। अपने को खोती हुई भी वह जैसे अपनी ही मिठास को अधिकता से प्राप्त करेगी। पर मैं वह कुछ नहीं कह सकता।

सन् ३० ई० में जेल गया था। पर गाँधी-इरविन समझौते से लोग बीच में ही रिहाई पा गये थे। हम कुछ लोग पाँच-सात दिन की देरी से छूटे। क्योंकि कागज़ात के दिल्ली से आने का इन्तज़ार था। जेल से बाहर निकले तो और ही हवा थी। बाहर की विस्तीर्णता पर आँख जाकर बड़ा हर्ष मानती थी। पिंजरे से निकलकर खुला आसमान पक्षी एकाएक पाये तो कैसा लगता होगा? यह दूसरी बात है कि आसमान में उसे पैर टेकने को कहीं ठौर न हो, और धरती पर भी किसी दूसरे ठिकाने के अभाव में वह फिर पिंजरे की याद करे। पर एकाएक तो मुक्त आकाश की पुकार के प्रति अपने को खोलकर अतिशय धन्य ही वह अनुभव करता होगा।

यह पंजाब के गुजरात की बात है। स्टेशन के पास एक सम्पन्न व्यापारी रहते थे। उनका नियम था कि जेल से निकले हुए किसी सत्याग्रही कैदी को वह सीधे नहीं चले जाने देते। उनका आतिथ्य लाँघना असम्भव ही था। शुद्ध विनय और प्रेम का यह अनुरोध टालते भी किस से बनता। हम लोग भी पकड़े गये। हमने कहा कि हमें दिल्ली पहुँचना है और वहाँ हमारी प्रतीक्षा होगी, क्योंकि तार पहुँच गया है। पर न, किसी तरह छुटकारा न था। हाथ जोड़ कर ऐसी विनम्र मुद्रा में उन्होंने अनुरोध दोहराया कि इन्कार करना उन्हें अभिशाप देना हो जाता। खैर, दिल्ली दूसरा तार कर दिया

गया और हम लोग उनके मेहमान बने।

कपड़े की उनकी खासी बड़ी कोठी थी, और भी कारोबार था। परिवार भरा-पूरा था। हमने देखा कि परिवार के सभी लोग हमारी अभ्यर्थना में लगे हैं। उनका स्नेह हार्दिक था। हममें एक आदरणीय बुजुर्ग थे। गृहपति उनसे तरह-तरह की बातें कर रहे थे। मैं पीछे बैठा हुआ सँकुचित था। मेरी निगाह उस कमरे की ऊँची छत और खुली दीवारों की तरफ़ जाती थी। जेल में सैल (cell) हमारा सब-कुछ था। यहाँ कमरे के बाद कमरे थे; और उनके बाद और कमरे। इन कमरों की क़तार की ओर निरुद्देश्य-भाव से देखता हुआ मैं कुछ खो गया था। बड़ी दूकान के बराबर से आते हुए कई कमरे लाँघकर हम लोग ड्राइंगरूम में बैठे हुए थे। मुझे जेल की सङ्कीर्णता के बाद इस घर की यह प्रशस्तता बड़ी मनभावनी लग रही थी। कृपणता कहीं है ही नहीं। हर कमरे में से द्वार दूसरे कमरे में खुलता है। जनाना हिस्सा कोठी के पीछे है और मर्दाने हिस्से में हर सुभीते के साथ परिवार के हर सदस्य के लिए अलहदगी और एकान्त है।

मैं कुछ सङ्कीर्णता में पला हूँ। वैभव का प्रसार मुझे अच्छा लगता है। ऋषि-मुनि गुहाओं में रहते थे। पर गुहा शब्द की ध्वनि में मेरे मन को प्रसाद प्राप्त नहीं होता। छोटी जगह, जहाँ से आकाश कट गया है और सिर छत से छू जाता है, जैसे वहाँ सीधे खड़े नहीं हो सकते, झुककर ही बैठना होगा, गुहा से कुछ ऐसा लगता है। नहीं वह नहीं। खुले में मन खुलता है। या कमरा हो तो हालनुमा, जहाँ छत है तो बहुत ऊँची और दीवारें दूर-दूर जैसे कि काफी आसमान इसमें आ गया है। मैं मकान चाहता हूँ, तो प्रशस्त-कक्ष और उन्नत भाल। सच तो यह है कि जिसे खुला-पन चाहिए वह मकान के चक्कर में ही न पड़े। मकान वही जो घिरा है। सब ओर से घिर कर सिर्फ दर्वाजे के भीतर से वह

खुलता है। नहीं कह सकता कि मेरी ऐसी रुचि में कारण क्या है। ऋषि-मुनि मुक्ति के लिए ही गिरि-कन्दरा में पहुँचे। और ऊँचे-ऊँचे बड़े महल बनाकर धनाढ्यों ने और राजाओं ने अपने लिये जकड़ ही पैदा की। इससे यह कहना सही नहीं होगा कि खुले मकान में ही खुली आत्मा निवास करती है। हर्म्यों में संसारी और कुटियों में वीतरागी निवास करते सुने जाते हैं। शायद, कारण कुटिया का छुटपन और हवेली का बड़प्पन न होकर, यह हो कि हवेली मुहल्ले में घिरी है और कुटी वनाकाश में मुक्त। पर वह जो हो, मुझे मकान खुला अच्छा लगता है। सदा छोटे और बन्द मकानों में रहने की वजह से तबीयत खुलना चाहती हो, यह हो, या कि उस वक्त जेल की सेल (cell) से आ रहा था, यह असल बात हो। जो हो उस बड़े घर को विशद सुविधा पर मन जाकर उस समय बड़ा आराम अनुभव कर रहा था।।

भोजन के लिए हम लोग चौके में पहुँचे। चौका पीछे कोठी के जनाने हिस्से में था। मकान के अन्दर ही अन्दर कोई आधा फर्लांग हमें चलना हुआ। रास्ते में बगीचेनुमा एक सहन पड़ा। पर उसके अतिरिक्त गैलरी के बराबर और कई कमरे मिले जो सभी सामान और साज से भरपूर थे। गृहपति साथ-साथ चल रहे थे। वह लगभग साठ बरस की वय के होंगे। विधुर थे और पुत्र-पौत्र सब कारबार सम्भालते थे। शायद छः या कितने पुत्र थे। सब विवाहित और उनके बाल-बच्चे थे। दो कन्याएँ भी उस समय अपनी सुसराल से वहाँ आई हुई थीं। इस तरह घर हरा-भरा था। गृहपति हमारे आदरणीय साथी को यह सब बतलाते जा रहे थे।

भोजन के अनन्तर कुछ आराम किया। फिर नाश्ता आ पहुँचा। परिवार के लोगों में हमारी सुख-सुविधा की चिन्ता का पार न था। शाम को एक सभा हुई और वहाँ व्याख्यान आदि हुए।

इसके बाद फिर भोजन। तदनन्तर रात को हम अपने-अपने पलंग पर सोने के लिए आ गये।

हम पाँच थे। एक बड़े कमरे में हम पाँचों के पलंग बिछे हुए थे। हमारा सामान छुआ भी नहीं गया था और हर पलंग पर पूरा बिस्तर नया बिछा था।

कुछ देर तो वह वृद्ध और हम लोग चर्चा करते रहे। फिर वह उठकर अपने बिस्तर पर चले गये। उस कमरे से लगी हुई एक छोटी कोठरी थी। उनकी खाट वहीं बिछी थी।

आसपास सब सो रहे थे। मुझे नींद नहीं आई। जेल से बाहर का पहला दिन था। सब-कुछ नया लग रहा था। मैं छत की ओर देखता हुआ पड़ा था। बिजली की बहुत हल्की बत्ती जल रही थी। गृहपति के सोने की जगह मेरे पास ही थी और साफ़ दीखती थी। वह रजाई ओढ़े सो रहे थे। पैर उनके सिकुड़े थे और पलंग का आधा हिस्सा भी उससे नहीं भर रहा था। तकिए पर सिर टेके बालक की नाईं वह पड़े थे।

देखते-देखते सहसा एक विचार बिजली की तरह मुझे कौंध गया। उसमें शब्द नहीं थे और तट नहीं थे। किसी प्रकार की परिभाषा उसे नहीं दी जा सकती है। विचार नहीं, उसे भाव कहना चाहिए, बल्कि भाव भी उसे क्या कहें। बिजली का क्या आकार होता है? उसकी शक्ल क्या है, जिसका नाम बिजली है? ऐसे ही इस समय जो अनुभव जैसे शरीर के अणु-परमाणु को स्तब्ध करता हुआ मुझ में भीतर तक कौंध गया, नहीं जानता कि मैं उसको क्या कहूँ? कैसे कहकर उसे बताऊँ।

फर्लांग में फैली यह बड़ी हवेली और उसके चौक और उसके बग़ीचे और उससे लगी बड़ी दुकानें। वह सब-कुछ इस समय क्या हो गया था कि उन सबका मालिक यहाँ बराबर में पलंग पर दो हाथ जितनी जगह घेर कर असहाय की भाँति पड़ा हुआ है।

जिसके पास सब-कुछ है, वही उस सब-कुछ को छोड़कर दो हाथ भर जगह ही बस अपना सका है। बिछी खाट पर गृहपति का अस्तित्व कितने संक्षेप रूप में समाप्त मालूम होता है। बस वह तो उतना ही है! बाकी जो-कुछ है सो उसका होने के लिए नहीं है। बाकी सब-कुछ उससे पराया है। उसकी निजता इससे आगे नहीं।

इस अनुभव के नीचे नहीं मालूम कितनी देर मैं आँखें खोले पड़ा रहा। जाने मैं क्या हो रहा था? बात कोई बड़ी न थी। लेकिन उस रोज़ एकाएक ऐसी अपूर्व ठोकर मन को लगी कि मैं अवसन्न हो गया। साथ ही मैं कृतार्थ भी हो गया। जाने कैसा बोझ मन पर से उठकर एक ही साथ शून्य में विलीन हो गया।

बार-बार स्मृति दिन में देखी हुई इस सज्जन पुरुष की समृद्धि और सम्पन्नता की ओर जाती थी। पुत्र हैं और पुत्रवधू हैं। दुहिता हैं, और दौहित्र हैं। नाती हैं, पोते हैं। धन-धान्य और प्रेम-विश्वास से सब-कुछ भरा-पूरा है और हरियाला है। पर उस सबके अधिपति को सोने के लिए दो हाथ जगह चाहिए, कुल दो हाथ! यह भी तो नहीं कि पूरी खाट वह घेर सके।

उस समय मेरा मन हुआ कि उठकर बाहर जाऊँ और तारों को देखूँ और चाँद को देखूँ। ऊपर आसमान है जो चँदोए-सा तना है और जिसमें अनगिनत तारों के फूल टँके हैं और जो सुन्न है और शान्त है, उसके नीचे जाऊँ और उसकी शून्य शांति में अपनी उस भरी हुई साँस को छोड़ दूँ। वह जो अनन्त है, वही है; और मैं यहाँ कुछ नहीं हूँ। जी हुआ कि यह प्रतीति अपने से इस अनन्त आकाश की शून्यता के कण-कण में से खींच-खींचकर और रोम-रोम के भीतर भर लूँ और इस प्रकार अपने को धन्य करूँ। पर वह मैं नहीं कर सका और छत को देखता हुआ पड़ा रहा। लेकिन छत के शहतीर ऊपर से उड़ गये थे और ऐसा मालूम होता था कि ऊपर आसमान ही है। खड़ी दीवारें गिर गयी थीं कि

जैसे बाहर भीतर सब एक है। रोक कहीं नहीं है। उस समय मालूम हुआ कि मैं अलग नहीं हूँ; सब में हूँ। मैं नहीं हूँ, क्योंकि शून्य है और मैं शून्य हूँ। मैं कुछ नहीं हूँ, यह अनुभूति ही मेरा सब-कुछ है।

कह नहीं सकता कि मुझे कब नींद आई थी। लेकिन यह याद कर सकता हूँ कि नींद उस दिन थकान की नहीं, आशीर्वाद की आयी थी।

आज सच है कि वह अनुभव पुराना पड़ गया है। उस पर धूल-पर-धूल चढ़ती जाती है। नित्य-प्रति के कामों में उसका आभास तक नहीं रहता है। अहंकार दिन की और रात की घड़ियों में हर दम सिर पर सवार रहता है। भीतर पसर कर इस या उस रूप में अभिमान आसन जमाये बैठा है, यह सच है। पर इस सब के पार होकर रह-रह कर उस इतने अधिक पुराने अनुभव पर मन जो जाया करता है सो क्या इसीलिये नहीं कि वह इस सब से कहीं ज्यादा सच है। कौन जानता है कि मानव-प्राणी के लिये एक अकेला सच अनुभव वही हो। शायद वही है। शायद नहीं, सचमुच वही है। जीव के पास उससे बड़ी सचाई कोई दूसरी नहीं है, कोई दूसरी हो नहीं सकती है।

कहानीकार

आजकल कहानी की धूम है और समय मेरे पास खाली है। वह रीता समय मुझे भारी हो-हो आता है। नहीं जानता, उसे कैसे काटूँ। काम मेरे लिए जरूरी नहीं है, क्योंकि पैसा काफी है। इसलिए जो चीज जरूरी मालूम होती है, वह नाम है। नाम अब मैं कैसे पाऊँ? बिना काम नाम कैसे हो? लेकिन मैंने कहानी की धूम सुनी है और सोचता हूँ, कहानी लिखूँ। इसमें काम ज्यादा माँगा नहीं जायगा और नाम हो ही जायगा।

पर क्या लिखूँ? कैसे लिखूँ? पढ़ा-लिखा तो मैंने बहुत है और मैं जानता हूँ, मैं विद्वान् हूँ। मैंने किस के लिए अवकाश छोड़ा है कि वह न जाने, मैं विद्वान् हूँ। फिर भी विद्वत्ता ठीक वक्त पर अलग धरी-सी रह जाती है, काम आने से बचती है। अब कहानी लिखने को तत्पर होकर जो मैं बैठ गया हूँ तो जान पड़ता है, मेरी विद्या मेरे चारों ओर चक्कर लगाती हुई घूम रही है; पकड़ में नहीं आती कि कलम को गति दे।

सो कलम लिये-लिये मैं बैठा रह गया। एक वाक्य ज्यों-त्यों लिखा, फिर उसे काट दिया। थोड़ी देर बाद एक और भी लिखा, उसे भी कटना पड़ा। विचार बहुतेरे सिर में चक्कर मारते रहे पर

उनमें कोई संगति ही नहीं दीख पड़ती थी। मुझे मालूम हो रहा था, मैं एकदम जानता तो बहुत-कुछ हूँ, फिर भी जाने क्यों, लिख कुछ नहीं पाता हूँ। इसी अवस्था में कब वे रुई के रेशे से भागते उड़ते हुए विचार और भी द्रुतपद हो गये, कब वे चित्रों के रूप में सामने आने लगे और कब वे सपने बन चले, पता नहीं।—घण्टे-भर बाद जब आराम-कुरसी से मैं उठा तब पता चला कि मुझे नींद आ गई थी।

मुझे बड़ा बुरा मालूम हुआ कि कहानी जैसी चीज भी मैं नहीं लिख पाया। लेकिन, काम के अभाव में ही सही, नाम तो मुझे जरूर पाना है। इसलिए कहानी भी जरूर मुझे लिख डालना है।

यहाँ आपको इतना कहूँ कि मैं कई भाषाएँ जानता हूँ और पढ़ने के नाम पर बहुत कम ऐसा पढ़ने योग्य बचा होगा जो मैंने न पढ़ा हो। मैं समाज में मान्य गिना जाता हूँ,—प्रतिष्ठा के लिए भी, ज्ञान के लिए भी। इसके बाद, तत्पर होने पर भी, कहानी जैसी चीज मुझसे न लिखी जायगी यह असह्य मालूम होता है। फिर भी कहानी तो लिखी गई नहीं। कई बार कोशिश की और फल शून्य रहा। तब एकाएक बैठे-बैठे एक दिन याद आया कि अरे, यहाँ पड़ोस में ही तो वह रहते हैं,—क्या नाम है उनका ?—जिन्हें कहानी का धनी समझा जाता है। चलो, उनके पास चलें। मालूम करें कि कहानी का क्या गुर है।

वहाँ पहुँचता हूँ तो देखता हूँ, एक सीधे-सादे-से आदमी हैं। कहानी का रोमान्स भूले भी उनके आसपास नहीं है। सीधी-सादी धोती है, उससे भी सीधा कुरता, और घर तो एकदम किसी भी तरह के रंगबिरंगपन से सूना है। जहाँ-तहाँ कुछ कागज, कुछ अखबार, एक-आध किताब है तो है, और कुछ नहीं है।

मुझे यह कुछ अच्छा नहीं मालूम हुआ। सोचने लगा, यहाँ

कहाँ आ गया ? यही कहानी के गुरु हैं ? भले गुरु हैं ! कहानी तो बड़ी रंगीन चीज़ है, और ये सूखे दीखते हैं। जी हुआ कि भूल हुई। चलो वापस चल दो।

उस समय मेरी कुलीनता ही आड़े आई। मेरे जैसा व्यक्ति भला अशिष्ट हो सकता है ? सो, शिष्टता के नाते मैं आकर एकदम लौट नहीं गया।

मैंने अपना परिचय उन्हें दिया, जिस पर वे बड़े कृतार्थ जान पड़े। वे मेरे नाम से और बड़ाई से परिचित थे और बोले कि मेरा साक्षात् करके बहुत प्रसन्न हुए।

खुलकर उनसे बात करने की तबीयत तो मेरी न थी, फिर भी, कुछ कहने के लिए मैंने कहा कि आप तो बहुत अच्छी कहानी लिखते हैं, दर्शन की इच्छा से आपके पास आ गया हूँ।

उन्होंने कहा कि लोगों की कृपा है, वैसे जो लिखता हूँ लिखता हूँ। इसका सब धन्यवाद तो लोगों को ही मिलना चाहिए जो उसे अच्छा कहते हैं और इसलिए अच्छा बना देते हैं।

होते-होते मैंने कहा कि मैं भी चाहता हूँ कि कहानी लिखूँ, पर देखता हूँ कि लिखी नहीं जाती। बताइए, कैसे लिखूँ ?

बोले कि लिखी नहीं जाती तो चाहिए क्यों ? चाहना छोड़िए। कहानी लिखना कौन ऐसा बड़ा काम है कि हर किसी के लिए जरूरी हो ? आप कहानी लिखे बिना क्यों निश्चिन्त नहीं हैं ?

मैं उनकी तरफ देख उठा। कोई और ऐसी बात कहता तो मैं उसे अपना अपमान ही समझता। लेकिन न उनके चेहरे पर कोई अवज्ञा का भाव था, न शब्दों में वैसी ध्वनि। मैंने कहा, "बेशक कहानी लिखना मैं अपना काम क्यों बनाने लगा। पर कोई कारण नहीं होना चाहिए कि मैं कहानी न लिख सकूँ।"

उन्होंने कहा, "बेशक कोई कारण नहीं होना चाहिए। लेकिन,

अगर यत्न करके भी नहीं लिख पाये हैं, तो कारण कोई तो है। वह क्या है ?"

मैंने पूछा, "क्या है ?"

बोले, "यह तो आपको स्वयं पाना होगा, क्या है। कुछ तो है ही। अहेतुक क्या बात होती है ? आप अपने भीतर से पहले जानिए कि चाहने पर भी क्यों कहानी नहीं लिखी गई ? और जब नहीं लिखी गई तो क्यों जरूरी तौर पर आपको चाहना पड़ता है कि लिखी जाय ? यही तो अनुमान होगा न, कि कुछ वस्तु आपको रोके हुए है। या तो उसे अभाव की परिभाषा में समझिए या उसे फिर कुछ नाम दीजिए। वह अभाव भर जाय या वह वस्तु हट जाय तो आपकी चाह पूरी होने में रुकावट नहीं रहेगी न। और जब ऐसा होगा तब चाह की जरूरत भी शनैः-शनैः लुप्त हो जायगी।"

मुझे उनकी बातें कुछ अँधेरी-सी मालूम हुईं। मुझे वह सब-कुछ पसन्द नहीं आया। उनके शब्दों में पकड़ने को कुछ है नहीं कि जिस पर विवाद उठाया जा सके और जिसको लाठी की भाँति टेक-टेक कर चलने से मार्ग शोधा जा सके। जान पड़ा कि कहीं इन महाशय का अहं-गर्व ही तो परामर्श की अज्ञेयता का रूप धर कर रौब जमाने नहीं सामने आ रहा है ?

मैंने कहा, "मुझे ठीक-ठीक बताइए कि आप कहानी कैसे लिखते हैं।"

उन्होंने कहा, "ठीक-ठीक ?" और कहकर मुस्कराहट के साथ मुझे देखने लगे।

मैंने कहा, "हाँ, ठीक-ठीक। जिससे मैं कुछ समझूँ।"

बोले, "देखो भाई, अपने को पूरी तरह मैं जानता नहीं हूँ। इसलिए 'ठीक-ठीक' भी मैं नहीं जानता। फिर भी तुम बहुत ठीक-ठीक, चाहते हो तो मुझे पूछने दो—"

यह कह कर उन्होंने पास से एक अखबार खींच लिया और वहाँ उँगली से एक शब्द को मुझे दिखाते हुए कहा, "यह अक्षर क्या है ?"

मैं चुप रहा।

"यह 'अ' है न ? आप 'अ' कैसे लिखते हैं ? ऐसा ही तो जैसा कि यह छापे में छपा है ? ठीक ऐसा ही 'अ' मैं लिखता हूँ। 'क' भी वैसे ही लिखता हूँ, 'ख' भी वैसे ही लिखता हूँ। अक्षर और शब्द सब वैसे ही लिखता हूँ जैसे आप लिखते हैं। भाषा भी वही लिखता हूँ जो हम-आप सब बोलते हैं। 'ठीक-ठीक' तो यही बात है, इस में आप मेरी क्या मदद चाहते हैं ? यह तो आप नहीं चाहते न कि मैं आपको 'अ' लिखना बताऊँ या 'क' लिखना बताऊँ, या शब्द लिखना बताऊँ, या भाषा लिखना बताऊँ ? बताने की तो यही चीजें हैं। लेकिन, इनके सीखने से तो आप ऊपर उठ गये।... आप जानते हैं, मैं क्या पढ़ा हूँ ?"

मैं उनकी तरफ देखता ही रह गया।

"एन्ट्रेन्स भी पास नहीं किया है। यह भली ही बात हुई है। क्योंकि कोई बहाना ही नहीं है मेरे पास मैं अपने को कुछ समझूँ। न पढ़ा, न लिखा, न कुल, न शील, न सूरत, न शक्ल। इस कुछ न होने के लिए मैं परमात्मा का ऋणी हूँ। उसने मुझे साधारण बनाया, इससे बड़ी उसकी और क्या दया हो सकती थी ? मैं अपने को अति साधारण ही समझ सकता हूँ। दम्भ का मेरे पास क्या बहाना है, कहाँ गुँजाइश है ? इसलिए अगर मैं कहानी लिखता हूँ तो क्या यह नहीं हो सकता कि कोई दम्भ मेरे भीतर रुकावट बनने के लिए उपस्थित नहीं है, इसलिए मैं लिख जाता हूँ। आप कितना पढ़े हैं ?"

मैंने कहा कि मैं अँग्रेजी जानता हूँ, फ्रेंच भी जानता हूँ। छः महीने जर्मनी में रहा था, जर्मन भी थोड़ी बहुत जानता ही हूँ।

बंगला के रवीन्द्र को मैंने मूल में पढ़ा है। मराठी-गुजराती भी थोड़ी जानता हूँ। हिन्दी मातृभाषा ही है।—इस बारे में तो शायद लोग मुझ से ईर्ष्या कर सकते हैं।—

उन्होंने हँसकर कहा, "ओः, तब बाकी क्या रहता है ? बेशक यह सौभाग्य भी हो सकता है। शायद सौभाग्य है, अगर आप उसे दुर्भाग्य न बनाएँ।...एक काम कर सकिएगा ? है मुश्किल, लेकिन उतना ही जरूरी भी है। वह यह कि जानते रहिए आप सब-कुछ, लेकिन भूल जाइए कि आप जानते हैं। क्या यह हो सकता है ? ऐसा हो तो मैं आप से ईर्ष्या करने लगूँ। यही मैं अपने से चाहता हूँ, भूल जाऊँ कि मैं कुछ जानता हूँ। अरे, इस अनन्तता की गोद में मैं किस चीज़ को क्या जानूँगा ? मैं इस महापूर्णता के शून्य अंक में प्रस्फुटित होते रहने के लिए अपने को छोड़ दूँ, इससे बड़ी क्या सार्थकता है ? इस से बड़ा ज्ञान भी क्या और है ? इसलिए जो मैं अपने से चाहता हूँ, वही चाहूँगा कि आप अपने से चाहें।"

मैंने देखा, वह आदमी गद्गद होने के निकट आ गया है। मुझे प्रतीत हो गया कि यह आदमी कहानी-लेखक होने योग्य नहीं है, मात्र बेचारा है। मेरे मन में इच्छा हुई कि मैं दुनिया को बताऊँ कि वह भूलती है। जिसको कहानी-लेखक उसने माना है वह तो कुछ बेवकूफ-सा आदमी है। राम-राम, कहानी जैसी मनोरम चीज़ और वैसा भोला-सा आदमी उसका स्वामी ! छिः छिः, यह कल्पना भी विडम्बना है।

और मैं सोचता हूँ, "मैं क्या कम योग्य हूँ कि कहानी मेरा वरण न कर ले। शायद अब तक मैं स्वयंवर के बीच आया ही नहीं। नहीं तो कैसे हो सकता है कि कहानी नतमस्तक होकर अपने दोनों हाथों से अपनी जयमाल मेरे गले में न डाल दे ?"

और, मैं स्वयंवर के दर्शकों को सूचना देना चाहता हूँ कि मैं वहाँ उतरने को उद्यत हो गया हूँ और कहानी को अब चिर-कुमारिका रहने की आवश्यकता नहीं है।

मित्र विद्याधर

जी जब हारता-सा है और ताकत चाहता है, मैं अपने मित्र विद्याधर के पास पहुँच जाता हूँ। वह नगण्यों में नगण्य है: पर अपने लिये जिन थोड़ों को मैं गिनता हूँ, उनमें उन्हें अवश्य गिनता हूँ। बी० एस-सी० किया, एम० ए०, एल-एल० बी० किया, उसके बाद एम० बी०, बी० एस० भी किया। फिर छक गये। आगे और कुछ करने की भूख नहीं रही। पास खाने-पीने को था, और स्वभाव मननशील पाया था। उसके बाद बरसों-बरस घूम कर और बैठ कर, बहुत कुछ देखा, छाना, और पढ़ा। इस सब के परिणाम में आज वह सैंतीस वर्ष से ऊपर के हैं, बिनब्याहे एकाकी हैं, और एक प्रचार-संस्था के अवैतनिक उपमन्त्री हैं। सभा के दफ्तर में आकर पाँच-छः घण्टे मनोयोग-पूर्वक चिट्ठी-पत्री की लिखा-पढ़ी करते रहते हैं। और वह कुछ नहीं हैं, और कुछ नहीं करते।

उन्हें बुद्धिमान् कहूँ, तो कैसे कहूँ। और मूर्ख भी वह नहीं हैं। उनकी आँखें भर-पूर खुली हैं। वह दुनिया में ऊँचा-नीचा सब देखते हैं। फिर भी सब-कुछ होकर न-कुछ बने रहनें में उन्हें अप्रसन्नता नहीं है। उनके मन के भीतर की आकाँक्षा को कोई

खा गया है। मुझे ऐसा लगता है, इतने बरस अकेले रहकर, जब-तब अपने भीतर की तह फाड़-कर अपना सिर उठा उठने-वाली आकाँक्षा को ही यह चुपचाप खाते रहे हैं; यहाँ तक कि अब उसका जड़-मूल ही निश्शेष हो गया प्रतीत होता है। बस चले, और अवसर आये, तो यह जीवन-भर चाकरी करते रहें, और मगन बने रहें। बहुत पढ़ने और जानने से यह शून्य विन्दु हो रहे हैं, यों शून्य हैं, कोई अपने दायें इन्हें ले ले, तो उसका दस गुना मूल्य बढ़ा दें। मानो इनकी साधना ही यह रही है, कि यह शून्य हो जाएँ। मित्र सब-कुछ जानकर यह नहीं जानते, सो नहीं है। मूर्ख ज्ञान चाहता है, मूर्खता का उनमें इतना अभाव है कि वह ज्ञान तक नहीं चाहते। शैतान काम चाहता है, शैतान का ऐसा आत्यन्तिक अभाव उनमें है कि वह सर्वथा निष्क्रिय रह कर अप्रसन्न नहीं हैं। इतनी अधिक जानकारी उन्होंने पाई है कि जड़ हो गए हैं, ऐसा जड़, जो सचेतन है, और जिसने चेतना का ऐसा विकास किया है कि वह, जैसे यत्न करके जड़त्व को अपना उठा है।

बात कितनी समझ आती है, मैं नहीं जानता। पर, मुश्किल यह है, वही समझ में पूरी तरह नहीं आते। पर, यहाँ कुछ कह लूँ, उनके सामने मेरी एक नहीं चलती। उनके सामने होकर देखता हूँ, उन से कुछ पा ही रहा हूँ, उन्हें दे सकने योग्य मेरे पास कुछ नहीं है।

किन्तु, इतना सुनकर, मेरे बारे में भूल न हो। मैं उनकी तरह नहीं हूँ। घर-कुटुम्ब वाला हूँ, प्रतिष्ठा-पैसे वाला हूँ, मेरा नाम खासा परिचित है, और जहाँ पहुँचता हूँ, गिना जाता हूँ।

पर जब विद्याधर के पास पहुँचता हूँ, तब मेरे साथ इनमें से कुछ भी परिग्रह नहीं रह पाता। अपनी प्रतिष्ठा, सम्भ्रम, प्रसिद्धि, रौब और दम्भ इनमें से कुछ भी अपने साथ बटोर कर रखने की

आवश्यकता से, मुझे, उसकी उपस्थिति में, मुक्ति मिल जाती है। कारण यही, कि ये सब चीजें उस क्लर्क विद्याधर की निगाह से नीचे रह जाती हैं। उसे दीखती नहीं, सो नहीं; पर अपने में उस निगाह को उलझा नहीं सकतीं; उसमें किसी तरह का विकार नहीं ला सकतीं।

जो अपने कारण, सब की निगाह में क्लर्क से भी गया-बीता है, और अपनी डिग्रियों के कारण केवल जो सभा का उपमन्त्री है, उसी छोटे आदमी विद्याधर के सामने मैं पहुँचता हूँ, तो अपने बड़प्पन को अलग उतार कर पहुँचता हूँ। और मन में यह अनुभव कर प्रसन्नता ही पाता हूँ कि मैं उसकी तुलना में ओछा रह जाता हूँ।

मुझे कभी-कभी खेद होता है कि क्यों यह मेरा मित्र विद्याधर वहाँ है, जहाँ है। क्यों मुझे, उसे समाज में उसके योग्य स्थान पर पहुँचाने नहीं देता। पर मैं उसे इतनी-सी छोटी बात समझाने में असमर्थ हो जाता हूँ, कि गली का झम्मन भँगी सम्राट् जार्ज से छोटा है। मैं बहुत करता हूँ, तो वह तनिक हँस पड़ता है। वह कम्बख्त क्यों नहीं समझता कि दुनिया में छोठा-बड़ा है, है, एक से लाख बार है और हमेशा रहेगा, और उसे बड़ा बनना ही चाहिए, छोटा नहीं रहना चाहिए। और मुझे खीझ होती है कि मैं क्यों नहीं उसे बड़ा बनने को राजी कर सकता। और जब वह छोटा है, तो मैं ही क्यों दुनिया में बड़ा बना खड़ा हूँ? ऐसे समय वह कहता है, छोटा बड़ा नहीं है। पर, एक-सा भी नहीं है। सब अपनी-अपनी जगह हैं। और उनकी जगह वही है, जो है। सब, कुछ और होना चाहते हैं। जो होना चाहते हैं, उसे बड़ा माना। इसीलिये जो हैं, वह छोटा हो गया। मन के भीतर का यही छुट-बड़प्पन जग का राज-रोग है। मन में से इस कीड़े को निकालना

होगा। तब रूस समानता की वास्तविक चाह में तुम्हारे पीछे आयगा।

मैंने मन में कहा, "मर कम्बख्त। रूस-वूस करता है, यह नहीं कि क्लर्की छोड़ कर कुछ बने।"

यह सब-कुछ है। पर, जब जी हारता है, मैं उसी के पास पहुँचता हूँ। उस मिट्टी के माधो में फर्क नहीं आता। पर मेरे जी को ताकत मिलती है।

* * *

तो रात को जब मैं अकेले में फूटकर रो उठा, और रोने के बाद भी मन सीसे की तरह भारी ही रहा; और तनिक चैन की किरण चारों ओर के अँधेरे में कहीं से भी फूटती मुझे नहीं दीख सकी; और मुझे लगा, ऐसे समय भटकती मौत कहीं आ जा रही होती, तो उसे कस कर ऐसे चिपटा लेता कि फिर मुझे साथ लिये बिना जाने न पाती; तब सोचा, विद्याधर के पास जाऊँगा।

इस तरह हल्के होकर मैंने नींद ली, और सबेरे निबट कर ग्यारह बजे उसकी सभा के दफ्तर में पहुँचा।

उसने कहा, "आओ। क्यों क्या हाल है?"

मैंने कहा, "तुम कहो, तुम्हें क्या मौत के दिन तक यहीं मरना है? मेरी पूछते हो, यह नहीं कि कुछ अपनी फिकर करो।"

विद्याधर तनिक हँसा। मुझे यही असह्य होता है। सब बात पर, जैसे भेद से, वह हँसता क्यों है? मैंने कहा, "तुम्हारे स्वामी जी कहाँ हैं आजकल?"

उसने सहज भाव से कहा, "यहीं हैं। दौरे से आगये हैं। इस समय अपने बँगले पर ही होंगे।"

मैंने कहा, "वह बँगले पर कोच पर होंगे। मैं पूछता हूँ, तुम दफ्तर में मेज पर क्यों हो?"

उसने फिर हँसना चाहा। कहा, "मैं स्वामी जी नहीं हूँ, विद्या-

धर हूँ; इससे अपनी जगह हूँ। लेकिन, तुम अपनी, मन की बात कह डालो। मुझे लेकर अपने को यों मत पैनाओ।"

मैं—"स्वामी जी किस न्याय से वहाँ हैं? और तुम किस तर्क से वहाँ से वंचित हो? और मैं कहता हूँ, तुम क्यों अपने व्यवहार से इस अन्याय को स्वीकृत और पुष्ट करते हो? बड़ी सभा है तुम्हारी। प्रचार करती है, उद्धार करती है, तुम्हें क्लर्क बनाती है, और स्वामी जी को बँगलाधीश बनाती है। क्यों? इसीलिये कि तुम अधिक योग्य हो, और स्वामी जी धर्म से अधिक दूर हैं? और, अब तुम कहोगे, सब ठीक है, और मैं गलत हूँ।"

विद्याधर—"हाँ, सहज न रह सकना, गलती की पहचान है।"

मैं—"फिर वही सहज की बात करते हो अंधेर के सामने सहज रहा जाय? कैसे रहा जाय? वह दिल नहीं कुछ और है, जो सहज से कुछ और होना जानता नहीं। और तुम जानते क्या हो, आदमी पर क्या बीतती है, और क्या-क्या बीत सकती है। अकेले हो, यहाँ मेज पर बैठे रहते हो और सहज भाव से कह देते हो, सहज रहो।..."

विद्याधर—"ठीक है, अब तुम शायद अपनी बात कहने के निकट आ रहे हो। कुछ लेकर आये हो, उसे कहकर हल्के हो जाते हो नहीं, मुझे लेकर गर्म होते हो।"

और, वह उसी तरह मुस्करा कर रह गया। हँसना है, तो हँस क्यों नहीं पड़ता; मुस्करा कर क्यों रह जाता है? और क्यों ऐसे देखता है? वह हिलता क्यों नहीं, क्यों अचल रहता है? मैं क्या उसका कुछ नहीं हूँ, और वह क्या मेरी विपत नहीं देखता, कि खुद हँसता है।

मैंने कहा, "विद्याधर तुम आदमी नहीं हो। पशु होते, तो भी अच्छा होता, तुम पत्थर हो। और मुझे कुछ नहीं कहना—मैं जाता हूँ।"

विद्याधर ने कहा, "नहीं, तुम जाओगे नहीं। कुछ बीता है, तुम्हारे साथ। तुम जानते हो, उसमें मेरा दोष नहीं है। किन्तु रोष मुझ पर ही करते हो, इससे प्रकट है, चित्त तुम्हारा स्वस्थ नहीं।"

मैं बैठ गया। मुझे सुख नहीं था। और वह बेलाग स्वस्थ-चित्त बैठा है, इससे मुझे और दुख था। रोगी के सामने डाक्टर कुर्सी पर अविचल भाव से बैठकर हाल पूछकर और नब्ज देख कर, गम्भीर भाव से नुस्खा लिखकर, अलग करता है, तब क्या रोगी को कुछ अच्छा लगता है? क्या वैसा अच्छा लगता है, जैसे जब माँ सिरहाने आ पूछती है, "बेटा, कैसा जी है?" और उत्तर में दो बूँद आँसू गिराने को तैयार हो जाती है। जब सामने वह मिलती है, माँ पत्नी या कोई, जिसका जी अपनी हालत से छूकर रो उठे, तब अपने जी को ठँडक मिलती है। पर रोग का निदान तो डाक्टर के पास ही है, माँ के पास नहीं। रोगी डाक्टर से ठँडक न पाये, आरोग्य वहीं से पायगा।

मैंने पूछा, "विद्याधर, तुम जानते हो, प्रेम कम्बख़्त क्या चीज़ है?"

विद्याधर गम्भीर हो गया, जैसा कि वह कम होता है।

"प्रेम चीज़ नहीं है, प्रेम विभूति है। हम कम्बख़्त हैं, जो उसे अपना मानते हैं। वह ईश्वर का ऐश्वर्य है। अव्याबाध व्यापक है। अपने-अपने बूते मुताबिक सबको मिलता है।"

मैंने कहा, "विद्याधर, तुम नहीं जानते प्रेम क्या है। जिसे प्रेम पर ईश्वर याद आये, वह वास्तव प्रेम, मानव-प्रेम क्या जानता है? विद्याधर, मुझे बताओ, क्या तुमने कभी प्रेम किया है? तब मुझे तसल्ली होगी।"

विद्याधर ने कहा, "हम मानव जड़ हैं! चैतन्य प्रेम है। उसी के प्रकाश में हम चैतन्य हैं। उसकी ऊष्मा हमारा जीवन है। उससे रिक्त हुए कि जीवनान्त हुआ। कौन प्रेम से वञ्चित है?—

वह अभागा है। वह अभाग्य पूर्ण हुआ कि मौत आई। पर, अपने-अपने बूते की बात है। मेरा बूता विनोद, शायद थोड़ा है।"

मैंने कहा, "तो तुमने प्रेम किया है ?"

विद्याधर, "तुम पूछते ही हो, तो मैं कहूँगा, हाँ किया है। पर, उसका दर्द छूट गया है। अब उसका आनन्द ही मेरे साथ शेष है। स्मृति-रूप में मेरे साथ वह नहीं है। स्मृति में कसक है, परायापन है, अन्तर है। मेरे साथ वह प्रत्यक्ष है, एकाकार है। बीच में सँयोजक बनकर स्मृति को टिकने का अवकाश नहीं है। ...तभी देखते हो, मैं रोता नहीं हूँ। बातें सब मेरे साथ रोने की हैं। देखो न, तुम विद्याधर न होकर भी मेरे पास आकर विद्याधर की परिस्थिति पर रोया करते हो। मेरा प्रेम विलग हो, तो रोऊँ। वियुक्त, दूर हो, तो तड़पूँ। इसीलिए मैं अकेला हूँ, इसीलिए सदा तुष्ट हूँ।"

मैंने कहा, "विद्याधर !"

विद्याधर, जो कभी नहीं हुआ, अब हुआ। वह विचलित हुआ।

मैं अवश हो उठा। "मेरी बात पीछे होगी विद्याधर! और तुम्हें अपनी बात मुझे सुनानी होगी।"

उसकी आवाज़ हिल आई। कहा, "विनोद, नहीं, यह नहीं...।"

मैंने कहा, "तुम जानते हो, मैं कौन हूँ। विद्याधर, मैं तुम्हारा हूँ।"

विद्याधर सामने को देख उठा। मेरे बहाने मेरे पीछे की दीवार में वह क्या देख रहा था, जैसे उसी को लक्ष्य कर उसने कहा, "अपने जी से चीरकर अलग करें, तब सुनायें।—नहीं, यह सुखद नहीं है।"

मैंने अपना हाथ बढ़ाकर मेज पर पड़े उसके हाथ को पकड़ लिया। कहा, "विद्याधर !"

और हिमाचल से ऊँचा यह महाशुभ्र-पत्थर विद्याधर, मानो मन्त्रबल से एकाएक गलकर बह पड़ने को हो उठा।

मैं सहसा ही घबड़ा गया।

मैंने देखा, वह चुप, निस्पन्द बैठा है।

वह जाने कहाँ देख रहा है। मेरे चेहरे को आर-पार करके कहाँ दृष्टि गड़ी है कि निर्निमेष हो पड़ी है।

कि,—उन फैली, टँकी, आँखों में एक खारी बूँद आई और टप् मेज़ पर टपक पड़ी !

उस टप् की आवाज़ से वह एक साथ चौंका। मानो कहीं से टूटा, टूटकर गिरा। सब स्तब्ध था। उसने झपटकर आँखें पोंछ लीं।

तब मानो उसने मुझे देखा। एक क्षीण मुस्कान की छाया उसके ओठों के किनारे आ रही। वे ओठ किञ्चित् खुले—

उसी समय द्वार पर साफेबन्द एक ग्रामीण पुरुष दीर्घाकार नकार की भाँति उपस्थित हो गया। बोला, "स्यामीजी, इहाँ ही रैते हैं ?"

वह मुस्कान स्फुट होकर ओठों पर फैल गई। क्या वह हँसा ? उस नीरव हास्य पर मेरे जी में से हाय उठी, और मैंने उसे मसोस ली। उसने अँग्रेज़ी में कहा, "समय गया, वह आ गया था—चला गया, इसमें मेरा दोष कहाँ है ? देखो, क्या अब वह फिर आता है ? विनोद, तुम जाओ, खुश रहो। सब भगवान् करता है।"

मैंने कहा, "विद्याधर !"

वह ग्रामीण की ओर मुड़ गया, कहा, "स्वामीजी यहाँ नहीं रहते हैं। पर आओ भाई, तुम कहाँ से आते हो ?"

"मैं जी, स्यामीजी के दिरशनों को आया था। रोत्तक के पास रैता हूँ, जी। स्यामीजी म्हारे गाम आए थे—"

"अच्छा, कौन गाँव ?"

और, मैंने देखा, वह हठात्, गँवार से छुट्टी पा लेना नहीं चाहता।

वह बातों में उलझ गया, मैं चुपचाप उठकर चला आया।

प्रियव्रत

जी, कवि प्रियव्रत की ही बात कहता हूँ। वही जो जवानी में बिचारा मर गया। अन्त की ओर की बात है। हम सहपाठी थे और प्रियव्रत मुद्दत बाद मुझे मिला था। इतनी मुद्दत कि अकस्मात् उसे सामने देखकर मैं कह बैठा, "अरे, प्रियव्रत! तुम, तो अभी बाक़ी हो दुनिया में?"

प्रियव्रत ने मन्द भाव से कहा, "हाँ, अभी तो हूँ।"

वह दुबला दीखता था। चेहरा कुछ पीला था, लेकिन आँखें चमकदार और बड़ी। उसे पाकर मैंने एकदम बहुत-कुछ पूछा—"कहाँ रहे? क्या करते रहे? कोई नई पुस्तक? कहीं नाम-धाम भी सुनने में नहीं आया। कुछ लिखा-पढ़ा? नहीं? तो क्या भाड़ झोंका? ब्याह हुआ? बच्चे हैं?" इत्यादि।

उसने संक्षेप में जवाब दिए। मानो ऐसी बातें सब निस्सार हों। पता मिला कि विवाह को कई बरस हो गए। पत्नी मैके हैं। बच्चे दो हुए। अब कोई नहीं है। और शेष चैन है।

"कुछ लिखा नहीं?"

उसने कहा कि लिखने से निवृत्ति पाली है। अब छुट्टी है।

मैंने कहा कि लिखना तुम नहीं छोड़ सकते। सुनते हो?

उसने कहा कि क्या सुनूँ ? लिखने की बात न करो। कुछ और बात करो। वह बचपन था।

लेकिन मैं यह कैसे सहता ? प्रियव्रत की साहित्यिक प्रतिभा से मैं परिचित था। लिखने से उसका विमुख होना दुर्घटना ही थी। यही बात मैंने कही। कहा कि अभिव्यक्ति आवश्यक है, और नहीं तो उससे चित्त ठीक रहता है। मन का रुकना त्रास है। लिखने से प्रवाह प्रवाहित रहता है।

पर इस पर तो प्रियव्रत बहस पर उतारू हो आया। आँखों में चमक आ गई और चेहरे पर की मन्दता एक दम जाती रही। कहने लगा कि सुना था कि तुम दार्शनिक हो गए हो। यही तुम्हारा दर्शन है ? अभिव्यक्ति को जरूरत ही क्यों ? उस जरूरत का मतलब है कि आदमी आत्मतुष्ट नहीं है। असल में स्वतः में मग्न रहना चाहिए। मग्नता में फिर क्या अभिव्यक्ति, और किस के प्रति ?

मुझे मग्नता और अभिव्यक्ति के रिश्ते से कुछ लेना नहीं था। पर प्रियव्रत को मैं छोड़ नहीं सकता था। मैंने कहा कि अपने में तो पूरा कोई नहीं है। बस यह भूल रहने से तो कोई अधूरा होने से नहीं बच सकता। अधूरा है इसीसे अभिव्यक्ति है। वही फिर व्यक्ति की निमग्नता की क्षमता बढ़ा देगी।

प्रियव्रत ने जोर से कहा कि नहीं, नहीं, नहीं। जरूरत ही क्या कि मैं अपने भीतर को बाहर करूँ ? भीतर को भीतर मैं क्यों नहीं रख सकता ? व्यक्त करता हूँ तो मतलब है मुझसे सहा नहीं जाता। लेकिन मैं दुखी हूँ तो, सुखी हूँ तो, किसी को क्या पड़ी है कि मैं अपना सुःख-दुख दूसरे को पता लगने दूँ ? असंयम और किसका नाम है ?

मुझे उसके शब्दों की ध्वनि पर निश्चिन्तता नहीं प्राप्त हुई। मैंने कहा कि मन का सुख-दुख और नहीं तो शरीर के स्वास्थ्य-

अस्वास्थ्य के रूप में प्रकट होगा। भीतर और बाहर दो तो एक-दम नहीं हो सकते न?

मैंने देखा कि प्रियव्रत कुछ तेज़ हो आया। उसने कहा कि जो हो, अभिव्यक्ति तुम कहते हो होगी ही, तो वह होकर रहेगी। मुझे उसके बारे में क्या सोचना-विचारना है? मैं तङ्ग होना नहीं चाहता।

स्पष्ट था कि इस चर्चा में उसे रस था। कुछ और बात उसे नहीं सुहाई। आस-पास से उसे नाता नहीं मालूम होता था और सूक्ष्म में उसका मन था।

मैंने कहा कि अगर हमारी भावना व्यक्त होगी, तो हमारे बावजूद उसका व्यक्त हो जाना इष्ट नहीं है। इसलिए कहना होगा कि अभिव्यक्ति होती ही नहीं है, उसे हम करते भी हैं। उसमें हमारा असहयोग नहीं हो सकता, बल्कि कर्तृत्व होना चाहिए।

उसने कहा कि क्या मतलब? मैं उषा का चित्रपट आकाश पर देखकर प्रसन्न हो जाता हूँ तो मैं कहता हूँ कि उस प्रसन्नता में ही मुझे सब-कुछ प्राप्त है। यह क्यों आवश्यक है कि मैं उस सौन्दर्य पर कविता रचूँ? नहीं, मेरे स्वयं प्रसन्न होने के आगे और सब अनावश्यक है। जो अभिव्यक्ति सामाजिक होने की ओर चलती है, मैं उसमें विश्वास नहीं करता। वह चीज़ मुझे ग़लत मालूम होती है।

मैं कुछ समझ नहीं सका कि इन तात्त्विक बातों में प्रियव्रत का आग्रह क्यों है। तत्त्व को तो जैसे रखो, वैसे रख जाता है। लेकिन मालूम होता था कि प्रियव्रत नहीं चाहता कि मैं चर्चा रोकूँ। मैंने कहा कि 'सोशल' शब्द का मान बँधा नहीं है। मैं अकेला नहीं हूँ। कोई अकेला नहीं है। हर-एक अनेकों के बीच और साथ है। वह है तो समाज का होकर है। मनुष्य लाज़मी तौर पर सामाजिक है। समाज से कटकर मैं नहीं हो सकता। उससे

अछूता मैं हूँ कहाँ ? और अगर समाज से अभिन्न हूँ तो कोई मेरी अभिव्यक्ति हो नहीं सकती जो समाज को न छूए, निरा अपना अलगाव रखे। उषा-दर्शन के समय मैं अकेला हूँ, दूसरा कोई पास नहीं है, तो क्या इतने पर मैं कह दूँ कि उस समय की मेरी प्रसन्नता समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रखती ? वह कहना ठीक नहीं होगा। मेरा स्वास्थ्य समाज को चाहिए। इससे मेरी प्रसन्नता में समाज का हित है। अतः यदि मैं सामाजिक हूँ तो मेरी अभिव्यक्ति निरी वैयक्तिक हो नहीं सकती। इसलिए 'सोशल' शब्द को अप्रयुक्त रख कर भी हम उसे सदा साथ समझ सकते हैं। सवाल यह है कि अभिव्यक्त चाहिए या नहीं ? मैं समझता हूँ कि अन्तर्भावनाओं को अभिव्यक्ति नहीं मिलेगी, यानी हम उन्हें अभिव्यक्ति नहीं देंगे, तो वे भावनाएँ हमारा बल नहीं बढ़ावेंगी, उल्टे हमें ही खाने लग जायँगी। या तो जियो, नहीं तो मरो। आदमी थिर होकर नहीं रह सकता। गति शर्त है। चढ़ता नहीं, तो उसे गिरना होगा। जगत् गतिशील है। चैतन्य प्रवाहमान् है। हमारी अन्तरानुभूति या तो हमारे मूल व्यक्तित्व में अंगीकृत होकर आत्मगत होगी और हमारे परिवर्द्धन में सहायक होगी, नहीं तो भीतर वह एक शव की भाँति बैठ जायगी और प्रवाह में बाधा होगी। वह तब हमें भीतर से कुतरती रहेगी। अभिव्यक्ति का यही मतलब है। हम ऐसे अपनी ही अनुभूति को आत्मसात् करते हैं। उसे कल्पना में लाते हैं, विवेकमय बनाते हैं, व्यवहार में लाते हैं। ऐसा नहीं करते तो आज मन में उठा हुआ एक भाव हमारे भीतर ही व्यर्थ रूप से चक्कर लगाता और टकराता है। वह फिर हमारी राह में अवरोध बनता है। वाणी या कृत्य में वह भाव अभिव्यक्ति पाकर मानो मुक्ति भी पा लेता है।

प्रियव्रत ध्यान से सब सुनता रहा। मुझे उसका वह तल्लीन चेहरा देखकर कभी-कभी मालूम होता था कि पुरुष-सौन्दर्य का

क्या अर्थ होता होगा। मेरे चुप होने पर उसने कहा, "मैंने कविता लिखना बन्द कर दी है, तो क्या तुम यह कहना चाहते हो कि मेरी कविता बाहर न आने के कारण मुझे भीतर से खा रही होगी? लेकिन मैं जानता हूँ कि मैं अपने से इस बात पर बिल्कुल नाराज़ नहीं हूँ। कविता बचपन है। उसमें सार नहीं मालूम होता।"

"लेकिन जिसमें सार मालूम होता है, ऐसा क्या है जो तुमने इस बीच किया है, वह तो मालूम हो? कौन कहता है कि कविता ही अभिव्यक्ति है। बल्कि वह पूरी और सच्ची अभिव्यक्ति है भी नहीं। क्योंकि कावता अकर्मक होती है। कार्मिक अभिव्यक्ति भी साथ हो, तब चक्कर पूरा होता है। तो क्या इस बीच कर्म द्वारा अपनी आकांक्षाओं को तुमने मूर्त रूप दिया है? वाणी से स्थूल कर्म है। और जो कर्म में स्वप्न को उतारता है, वह कवि से बड़ा कवि है। मैं सुनना चाहता हूँ कि यह तुमने किया है।"

प्रियव्रत कुछ देर मानो सोचता रह गया। फिर बोला कि नहीं मैं तुम्हारी नहीं सुनना चाहता। अभिव्यक्ति जो व्यक्ति को समाज से जोड़ती है, व्यक्ति के लिए बन्धन भी है। समाज से अपने को अटका कर व्यक्ति पूर्ण नहीं हो सकता। वह पूर्ण है तो अपने ही में है, और जो पूर्ण है वह कृतकाम है। उसे कुछ व्यक्त करना नहीं है; क्योंकि कुछ पाना नहीं है। अभिव्यक्ति के भीतर है चाह। चाह यानी ग़रज़। वह है बन्धन। बन्धनहीन अभिव्यक्तिहीन होगा। न मैं कुछ कहना चाहता हूँ, न कुछ करना चाहता हूँ।

मैंने कहना चाहा कि 'प्रियव्रत!' लेकिन आगे मैं कुछ न कह सका। उसे देखता-भर रह गया। युवाकाल के प्रारम्भ में प्रियव्रत की प्रतिभा से साहित्य-जगत् चमत्कृत हो पड़ा था। अभी तो उस यौवन का मध्याह्न भी नहीं है, फिर अभी से प्रियव्रत का यह क्या हाल है!

उसने कहा, "नहीं, विद्याधर, मेरा जी किसी काम को नहीं करता। जग से विरक्ति मालूम होती है।"

मैंने कहा, 'प्रियव्रत, तुम उस कम्पनी में थे न? क्या उससे अब सम्बन्ध नहीं है?"

प्रियव्रत ने पूछा कि कम्पनी क्या?

मैंने सुझाया कि उस फिल्म कम्पनी में थे न!

प्रियव्रत की भौंह सिकुड़ आई। उसने कहा कि हाँ......आ, पर वह बात पहले जन्म की है और अब दो वर्ष से वह ख़ाली है। ऐसा ख़ाली कि......। और पिछले चार महीनों से उसकी पत्नी अपने पिता के घर है जहाँ कि उसकी विमाता नहीं चाहती कि वह रहे।

मैंने कहा कि प्रियव्रत, ऐसी हालत में तो तुम्हें और मनोयोग से लिखना शुरू कर देना चाहिए।

प्रियव्रत ने माथे में बल लाकर कहा कि ऐसी हालत में? क्या तुम्हारा मतलब है कि पैसे के लिए मुझे लिखना चाहिए? पैसे के लिए मैं जूता तक साफ नहीं कर सकता। लिख तो सकता ही कैसे हूँ। नीच-से-नीच काम पैसे के लिए मुझ से न होगा। उस पैसे के निमित्त लिखने जैसा काम करने को मुझसे कहते हो? सुनकर मेरा जी जल उठता है।

मैंने पूछा कि फिर क्या करोगे?

प्रियव्रत की आँखों में कुछ निश्चित नहीं मालूम होता था। लेकिन वाणी पर्याप्त से अधिक कटिबद्ध प्रतीत हुई। उसने कहा कि करना मुझे क्या है। जो करते हैं वे ख़ाक करते हैं। मैं अपने में मग्न रहने के लिए हूँ। अपने से बाहर का मुझे कुछ नहीं चाहिए। भीतर क्या नहीं है? बाहर की बड़ी-से-बड़ी चीज के पास ताकत नहीं है कि मेरा छोटे-से-छोटा दुःख अपने पास रोक सके। दुःख है तो मुझ में है। सुख है तो मुझ में है। मैं नहीं

परवा करता दुनिया की। तुम जानते हो?—तुम नहीं जानते। दो बरस मैं वह तुम्हारी कविता लिए-लिए घूमता रहा। किससे नहीं मिला? लेकिन कोई प्रकाशक उन्हें नहीं छाप सका। मैंने तब सोचा कि प्रकाशक को तकलीफ़ मैं क्यों देता हूँ। चलो, प्रकाशकों को सदा के लिए छुट्टी दे दूँ। सोचकर कविता के पुलिन्दे को मैंने जला दिया। यहाँ उसने एक साँस छोड़ी और विलक्षण भाव से मुस्कराया। फिर कहा, "कविता नहीं है तो मैं भी मुक्त हूँ। और अब मुझे किसी प्रकाशक के पास जाने की ग़रज़ नहीं रह गई है।"

सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। शायद मैंने प्रतिवाद में कुछ कहा।

प्रियव्रत ने कहा कि उनका जलाना ग़लती तो तब हो जब मैं आगे भी कुछ लिखूँ। लेकिन उसके बाद एक अक्षर भी मैंने नहीं लिखा, न लिखूँगा। फिर तुम इसको ग़लती कैसे कह सकते हो? और तुम कहते हो अभिव्यक्ति! मैंने इतने दिनों से जो कुछ भी नहीं लिखा है, इससे बताओ मेरा क्या कम हो गया है? तब ज़िन्दा था, सो अब भी ज़िन्दा हूँ। बिना लिखे मरने की कोई ज़रूरत मुझे नहीं मालूम हुई।

प्रियव्रत की स्थिति पर मेरे मन को पीड़ा हुई। मैंने कहा कि प्रियव्रत शायद मिश्रजी को तुम जानते होगे। हाँ, जो आलोचना आदि लिखते हैं। वह अब विश्राम चाहते हैं। उनके सहायक उनकी जगह हो जायेंगे और सहायक की जगह उस पत्रिका में ख़ाली होगी। उस पर जा सकोगे?

"सहायक संपादक की!"

इतना कहकर प्रियव्रत ने आगे कुछ नहीं कहा और कठिन व्यंग से थोड़ा हँस दिया। कुछ देर बाद बोला, 'वेतन होगा वही साठ-सत्तर?"

मैंने कहा, "सहायक शुरू में पचास पाते थे। लेकिन वेतन"—

प्रियव्रत कह उठा, "पचास !"

मैंने कहा, "दिन एक से नहीं रहते, प्रियव्रत। पचास का मुँह मत देखो। तुम्हारी योग्यता छिप नहीं सकती। बस एक बेर चित्त थिर कर लो। बाकी भाग्य देख लेगा।"

प्रियव्रत ने व्यंग से कहा, "मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ, विद्याधर !"

मुझे सुनकर पीड़ा हुई। फिर भी मैंने अनुरोध पूर्वक कहा कि भविष्य को कोई नहीं जानता। इससे वर्तमान की मर्यादा पर लज्जित होने की कोई बात नहीं है, प्रियव्रत !

लेकिन प्रियव्रत ने कहा, "मैं पचास की नौकरी नहीं कर सकता। और न किसी का सहायक हो सकता हूँ। भूखों मरना पड़े तो इतिहास लिखेगा तो कि प्रियव्रत जैसे कवि को दुनिया ने भूखा रक्खा और उसी में जान ले ली ! ग़रीबी इस तरह मुझे अभाग्य नहीं मालूम होती। लेकिन पचास में सहायक-संपादकी मुझसे न होगी।"

मैंने कहा कि पचास रुपए थोड़े हैं, यही बात है न ? लेकिन न कुछ से तो कुछ भला है। इसे स्वीकार कर लो, प्रियव्रत ! आगे, विश्वास मानो, सब ठीक हो जायगा।

लेकिन प्रियव्रत को वह बात नहीं भाई। उसे वह अपमानजनक मालूम हुआ। थोड़ी देर बाद किंचित् रुष्टभाव से प्रियव्रत मुझसे विदा ले चला गया।

: २ :

मुझे नहीं मालूम था कि इस दिल्ली शहर में वह कहाँ टिका है। मैंने उसका स्थान पूछा था। उसने कहा था कि अभी स्थान और स्थिति जैसी कोई चीज़ उसके पास नहीं है। जहाँ-तहाँ ठहर

गया है और जैसे-तैसे रह लेता है। मिलता तो रहेगा। इसलिए जो होगा, मुझे पता लग जायगा।

लेकिन मुझे कुछ पता नहीं लगा। दस दिन, पन्द्रह दिन हो गए। प्रियव्रत गया तो फिर ख़बर तक नहीं लौटी। उसके लिए मेरे मन में चिंता थी। कालिज में हम दोनों दो वर्ष साथ रहे थे। मैं वहाँ उसकी प्रतिभा पर मुग्ध था और उसका अनुगत था। कलिज के सभी लड़कों में उसकी धाक थी। भविष्य उसका उज्ज्वल समझा जाता था। लेकिन उस भविष्य में यह काला दुर्भाग्य कहाँ से निकल आया? आज की उस की हालत पर मन किसी तरह गर्व नहीं मानता। अपनी और उसकी तब की और अब की तुलना पर मुझे जगत् बेतुका मालूम होता था। जिसमें कोई विलक्षणता न थी, कोई योग्यता न थी, ऐसा मैं तो खुशहाल था। और प्रियव्रत का हाल बेहाल था। मेरा मन प्रियव्रत के सोच से छूट नहीं पाता था। मैं सोचता था कि प्रियव्रत क्यों नहीं आया? वह कहाँ है? कैसे है?

शायद महीने से कुछ ऊपर हो गया होगा कि एक दिन प्रियव्रत की पत्नी मेरे घर आई। उन्होंने आकर स्वयं अपना परिचय दिया, और कहा कि वह अब उस पत्रिका में जाने को तैय्यार हैं। मैं प्रबन्ध कर दूँ।

मैंने कहा कि प्रियव्रत यहीं हैं? कुशल से तो हैं न?

उन्होंने कहा कि हाँ, कुशल ही कहिए। आप उनके लिए उस जगह का बन्दोबस्त कर दें।

मैंने कहा कि अब तो शायद है कि किसी को उस जगह रख लिया गया हो। फिर भी मैं देखूँगा। कल मालूम करके निश्चित बता सकूँगा।

वह चली गई, और उनके चले जाने पर मैं सोचने लगा कि वह मेरी परिचित नहीं थीं तो क्या हुआ, मैंने उसके साथ जाकर

प्रियव्रत को देख ही क्यों न लिया ? मेरे मन में प्रियव्रत के बारे में शङ्का थी। अगले दिन वह फिर आईं। मुझे तब उनसे कहना हुआ कि वह जगह तो अब खाली नहीं रह गई है।

महिला ने कहा, "तो ?"

इस संक्षिप्त "तो ?" को सुनकर और उनकी निगाह को देखकर मैं अपने को अपराधी-सा लगने लगा। मैंने कहा, "जो कहिए करूँ।"

महिला ने कहा, "तो आप कुछ नहीं कर सकते ?"

मैंने कहा, "बताइए क्या कर सकता हूँ ?"

बोलीं, "कुछ जरूर कीजिए। उनकी हालत अच्छी नहीं है।"

मैं आग्रहपूर्वक उनके साथ प्रियव्रत को देखने गया। उनको खाँसी थी और हर रोज टेम्परेचर भी हो आता था। वह पीला था और दृष्टि उसकी भटकती मालूम होती थी। इलाज की कुछ ठीक व्यवस्था नहीं थी। परिस्थिति में चारों ओर अभाव-ही-अभाव दीखता था। पत्नी अपना सब-कुछ गँवा चुकी थीं और उन्हें अब अपने पिता के पास से भी सहायता का ठिकाना नहीं रह गया था। तो भी धीरज बाँधकर वह चले ही जाती थीं।

खैर, मैंने डाक्टर की व्यवस्था कर दी। प्रियव्रत को ताकीद की कि वह मुझे पराया न गिने। और उसकी पत्नी को कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं है।

प्रियव्रत बहुत संकुचित मालूम होता था और खुलकर बात नहीं कर पाता था। उसकी आँखों में एक कृतज्ञता भरी रहती थी जिसका सामना करना मुझे कठिन होता था इसलिए जब तक वश चलता, मैं उसके पास नहीं जाता था। दया (उसकी पत्नी) आकर मुझे हाल-चाल दे जाया करती थीं।

एक दिन उन्होंने मुझे अचम्भे में डाल दिया। आकर कहा कि

आप क्यों फ़िजूल डाक्टर पर पैसे बरबाद कर रहे हैं ? सब बन्द कर दीजिए। उन्हें जीना हो तब न ?

मैंने कहा कि यह क्या कहती हो ? डाक्टर तो आराम बतलाता है। कहता है, हालत सुधर रही है और कुछ दिन में स्वास्थ्य लौट आयगा।

उन्होंने व्यङ्ग से कहा कि हाँ, लौट आया स्वास्थ्य ! डाक्टर कुछ जानता भी है ? हम आप से एक पैसा नहीं ले सकते।

मैं सुनकर घबरा-सा गया। मैंने कहा, "क्यों, क्यों क्या बात है ?"

दया ने विचित्र स्वर में कहा कि आप एक काम कर सकें तो कर दीजिए। बचनी हुई तो उतने से ही उनकी जान बच जायगी। नहीं तो कोई डाक्टर कुछ नहीं कर सकता।

मैं दया का आशय कुछ भी नहीं समझ सका था।

उसने कहा कि आप को मालूम भी है कि आपका दिया पैसा किस काम आता है ?

मैं पहले तो चुप रहा। फिर मानो अनुनय के स्वर में मैंने कहा कि उन सब की चिन्ता करके मुझे आप कष्ट क्यों देती हैं।

वह बोलीं, "शराब खरीदी जाती है।"

अनायास मेरे मुँह से निकला, "शराब !"

दया ने जाने कैसे मुझे देखकर कहा, "हाँ, मैं ही खरीद कर लाती हूँ। वह कहते हैं कि शराब से वे जी भी रहे हैं। नहीं तो कभी के मर जाते। मैं जानती हूँ, यह झूठ है। जानती हूँ, शराब उन्हें खा रही है, पर मुझसे यह भी तो नहीं बनता कि उनकी हालत देखती रहूँ और शराब से जो जरा चैन उन्हें मिलता है, उसे भी छीन लूँ। मैं आपके हाथ जोड़ती हूँ, उनकी शराब छुड़वा दीजिए। नहीं तो डाक्टरी बिरथा है। और मैं आप से माफी

माँगती हूँ। इलाज के लिए आप से पैसे लेकर मैं उन्हें शराब देती रही! शराब उनकी मौत है। लेकिन मैं क्या करूँ ?"

मैंने जाकर प्रियव्रत को सख्ती से डपटा। वह मुझे देखता रहा। कुछ देर सधे मेमने की तरह चुप-चुप सुनता रहा। सुनते-सुनते एकाएक उसने जोर से धमकी के स्वर में कहा कि मैं उसके सामने से दूर हो जाऊँ। जाऊँ, अभी चला जाऊँ। एक मिनिट उस घर में न ठहरूँ। आया हूँ उपदेश देने! सारा उपदेश अपने पास रखूँ और मरने वाले को मरने दूँ। कहा गया कि मुझ से जैसे लोग मरते-मरते भी आदमी को ज़रा चैन न लेने देंगे। आए हैं कहने कि शराब मत पियो! अरे, किसी का कलेजा देखा है? शराब से उसका घाव धुलता है। मुझ से बनने चलते हैं उपकारी, जैसे लाट साहब हों। वे क्या जानें शराब की खूबी! पैसा हो गया, तो भलेमानस हो गए! मैं रखूँ अपना पैसा अपने पास और जाऊँ, लाखों के सामने से इसी मिनिट मैं दूर हो जाऊँ। नहीं तो—

इस तरह प्रियव्रत कुछ-कुछ कहने लगा।

दया ने ऐसे समय हाथ खींच कर, कन्धा हिलाकर, झिड़की देकर बहुत कुछ उसे वर्जन किया। लेकिन प्रतिरोध पर प्रियव्रत की अवशता और बढ़ आती थी। ऐसे समय वह अपनी पत्नी को ही कहने लगता कि तू लम्पट है, दुराचारिणी है और मैं सब जानता हूँ। कोई अन्धा नहीं हूँ। तू इसे (मुझे) चाहती है, हट, दूर हो, निकल बेहया।

ऐसे समय कहनी-अनकहनी का प्रियव्रत को ध्यान नहीं रहता था। और मुझे बहुत दुःख था। खैर, बहुत कुछ सुनते रह कर मैंने दया से कहा कि मैं अब जाता हूँ। तुम घबराना नहीं।

प्रियव्रत ने चीख कर कहा, "हाँ, जाओ, जाओ, टलो। मैं किसी का मुहताज नहीं हूँ।"

सुनकर मैं चुपचाप लौटकर चल दिया। लेकिन घर से बाहर नहीं हुआ हूँगा कि एक चीख मुझ को सुनाई दी। लौटकर आकर देखता हूँ कि प्रियव्रत चादर-वादर फेंककर, पलँग पर उघाड़ा बैठा है। उसके माथे पर चोट का बड़ा-सा नीला दाग़ है, जिसमें से थोड़ा-थोड़ा लहू निकल रहा है। प्रियव्रत हाँफ रहा है और ज़ोर-ज़ोर से हाथ फेंक कर कह रहा है कि सब दूर रहो। कोई पास न आओ। मेरी यही सज़ा है, यही सज़ा है।

मालूम हुआ कि कमरे से मेरे ओझल होने पर एक साथ चादर ऊपर फेंक कर, उठ कर प्रियव्रत ने ज़ोर से अपना सिर पलँग के पाए पर दे मारा था। देखकर दया चीख पड़ी थी। वही चीख मैंने सुनी होगी।

ख़ैर, मैंने प्रियव्रत को आराम से लिटाना चाहा। वह इसमें मेरा प्रतिकार करता रहा। और बस न चला तो वह मुझे नोचने-खसोटने लगा। मैंने उसके प्रतिरोध को बेकार कर ज़ोर से पकड़ कर उसे पलँग पर लिटा दिया। दया को कहा कि पट्टी-वट्टी लावे। घबराये नहीं।

प्रियव्रत बेकाबू होकर बालक की भाँति रो आया। वह बार-बार मेरा हाथ पकड़ कर चूमने लगा। रोते-रोते उसकी हिचकी बँध गई। उसने कहा कि वह मुझे पहचानता है। और कि वह मरना नहीं चाहता, बिल्कुल नहीं चाहता। उसने मुझसे पूछा कि मैं उसे बचा लूँगा न ?

मैंने उसे ढाढस बँधाया। और वह बार-बार यही पूछने लगा कि वह मरेगा तो नहीं ? दया, ओ दया, मैं मरना नहीं चाहता। मैंने तुम्हें हमेशा तकलीफ़ दी। मैं निकम्मा हूँ, लेकिन मैं मरना नहीं चाहता। दया तेरे उपकार का बदला देने के लिए जीना चाहता हूँ। विद्याधर, मैं मरना नहीं चाहता। मैं नए सिरे से

जीना चाहता हूँ, पर—ऐं—नहीं मुझे मरना चाहिए। मैं पापी हूँ। विद्याधर, मुझे छोड़ो। मैं पापी हूँ।

पट्टी ठीक-ठाक कर, और उसे डाक्टर के सुपुर्द कर मैं चला आया। दया को कहता आया कि सेवा के अतिरिक्त कुछ भी चिन्ता न रखे। ईश्वर बाक़ी देख लेगा।

ईश्वर बाकी अवश्य देख लेगा, इसमें तो सन्देह नहीं है। लेकिन फिर भी तो सन्देह होता ही है। पर ऐसे समय ईश्वर से इस ओर का कोई भी तो और शब्द धीरज बँधाने के काम में नहीं आता!

: ३ :

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आगे दिनों की ही बात थी और प्रियव्रत मर गया। वह यह कहते-कहते मरा कि मैं मरना नहीं चाहता, दया! मैं मरना नहीं चाहता। विद्याधर, देखो मुझे बचा लो!

आतिथ्य

: १ :

उनका घर भी दिल्ली में है, पर जान-पहचान हुई यहाँ इतनी दूर आकर। वे भी फर्स्ट ईयर में दाख़िल हुए हैं; मैं भी। विषय भी एक ही है—दोनों के पास साइन्स। होस्टल में कमरे भी पास-पास हैं। हमारी जान-पहचान खूब गहरी होने लगी। धीरे-धीरे स्थान का नयापन भी दूर हो गया और हम होस्टल की जिन्दगी में मिल गये। अभी तक थे तो होस्टल में ही, पर कुछ बेसुरे-से लगते थे।

मेरे मित्र पैसे और दिल से अच्छे हैं। खुले हाथ खर्च करते हैं। हाँ, ज़रा पढ़ने में थोड़ा कुछ...। बड़े कमरे में रहते हैं, थ्री-सीटेड है वह, और इसलिए तिगुना किराया भुगताते हैं। उनके साथ उस कमरे में ही उनका एक नौकर और एक रसोइया रहता है।

थोड़े दिन बीते कि उनके चारों ओर एक मण्डली जुट गई। या यह कहें कि उनके रसोइये के चारों ओर एक मण्डली जुट गई। कुछ मित्रों ने मुफ्त के नौकर और मुफ्त के श्रीमान् को पाकर एक नया मेस खड़ा कर लिया है। मैं भी उस मेस ही में भोजन पाता हूँ।

मित्र का नौकर सब का नौकर है, और महाराज पर भी सभी हुक्म चढ़ा देते हैं—मित्र इससे बड़े प्रसन्न हैं। वास्तव में वे बहुत ही भले आदमी हैं। पन्द्रहवें रोज़ पिक-निक पार्टी की जाती है, और उसका भार भी बिना कहे-सुने वही उठाते हैं, मानो उन्हें मालूम भी नहीं होता। यह पिक-निक की सूझ भी उन्होंने ही सुझाई है, नहीं तो यहाँ किसको पड़ी है और किसके पास पैसा है।

मित्र इस तरह खूब प्रिय और खूब परिचित हो गये हैं। मेरी उनकी तो बात ही क्या, सभी मानो उनसे घनिष्ठ हो गये हैं और थोड़ा उनका भार और आभार उठाने को तैयार रहते हैं।

इसी तरह साल बीतते रहे। छुट्टी में दिल्ली आते तो वहाँ भी साथ रहते, कालेज में तो रहते ही। मुझे उनसे और तरह की बिन-माँगी कृपा मिलती ही थी, उनको भी मुझ से माँगी हुई पढ़ाई की मदद मिल जाती थी। सारांश, हम बहुत अभिन्न हो गये।

: २ :

आखिर आँधी आ गई। कालेज टूट-टूटकर गिरने लगे और लड़के भागने लगे। तब मानो यह बड़ा-सा हिन्दुस्तान करवट ले रहा था, करवट के साथ करवट नहीं लोगे, तो मानो कहीं के न रहोगे। गाँधी की उस आँधी की चपेट में मैं भी आया, मेरा दिमाग़ मानो उड़ने लगा। मानो अभी आसमान-धरती एक कर दूँगा और भारत-माता की परतन्त्रता-बेड़ियों को एक चोट में कट-कटकर काट दूँगा। और इस तरह मैं अमर हो जाऊँगा।

कुछ आँधी की झोंक में, कुछ दिल दिमाग़ की झोंक में, कुछ समझकर और कुछ शर्माशर्मी में मैं तो कालेज छोड़ बैठा, मित्र वहीं रहे।

अब मेरे लिए दो ही काम थे—देश-सेवा और भटकन। इस

देश-सेवा में कई बाँस लगाये, पर नाप नहीं सका कि देश कितने इञ्च आगे बढ़ा। आखिर जब देश वहीं-का-वहीं दीखा—बल्कि चाहे कुछ पिछड़ा हुआ—और सेवा का कुछ अन्त ही नजर नहीं आया और न महत्त्व, कुछ थकान होने लगी और मन और कुछ चाहने लगा। लोग भी मेरी देश-सेवा की कम प्रशंसा करने लगे और उससे तङ्ग-से दीखने लगे, और पिता की चिट्ठियों-पर-चिट्ठियाँ आईं और स्त्री की गड़बड़ खबरें, और घर की बेपैसा हालत—क्षुब्ध मन से देश-सेवा छोड़ देनी पड़ी। सोचा था, कुछ करके दिखाऊँगा और पुजूँगा, सो कुछ करके तो दिखा न सका, उल्टे पीठ दिखाकर भागना पड़ गया। घर पर आकर चुपचाप बैठ गया। पिता बीमार हैं, स्त्री भी ठीक नहीं है, और बच्चे यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ और सब जगह से फिर-फिरकर चौके में घूम रहे हैं। चौके में कुछ बना नहीं, कौन बनाये और कैसे बनाये?

पिता-स्त्री की इस बीमारी और बच्चों के घूमने का परिणाम यह हुआ कि मैं एक मिडिल स्कूल में मास्टर हो गया। इस दवा ने काम भी खूब किया। क्योंकि पिता चंगे हो गये, स्त्री भी ठीक रहने लगी, रोटी ठीक बनने और बच्चों को मिलने लगी। पैंतीस रुपये की करामात को अब देखा। हजारों रुपए इकट्ठे किए हैं, और दे दिए हैं, रूखी रोटी भी खाई है और पैदल भी चला हूँ, पर पैसे का पूरा मूल्य और पूरी करामात अबसे पहले समझ में नहीं आई। देश-सेवा में ऐसी करामात नहीं नजर आई। उसे पैंतीस रुपये में छोड़ देने के लिए मैं पछताता नहीं हूँ। अपनी देश-सेवा में मैं अभी तक एक भी रोगी नहीं अच्छा कर पाया हूँ, एक को भी खुश नहीं कर पाया हूँ, एक को भी नहीं अपना बना पाया हूँ, यहाँ तक कि अपने को भी कुछ नहीं बना पाया हूँ। लेक्चर से यह कुछ भी काम नहीं होता। इन पैंतीस ने अच्छा भी किया, खुश भी किया, लोग भी कुछ अपने बनते जा रहे हैं, और अपने को

भी समझता हूँ, बना रहा हूँ।

: ३ :

तो इसी मास्टरी के काल में कोई सात साल बाद एक रोज़ दिखाई दे गये वही कालेज वाले मित्र।

चाँदनी-चौक में कुछ ख़रीद कर रहे हैं। हैट है और चमकते बूट हैं, पतलून बड़ी नफ़ीस है, कोट नाभि से जरा नीचे तक आ गया है।

कालेज की मेरी पढ़ाई की श्रेष्ठता रक्खी रही, और मैं झिझकता रहा। बोलूँ या न बोलूँ ? बोलूँ कैसे बोलूँ, "सर' या और कुछ ? इतने में ही उन्होंने मुझे देखा।"

"ओ-हो, प्रसाद बाबू, तुम कहाँ !, हाऊ-डू-यू-डू।"

मैंने गुनगुना दिया, "अच्छा हूँ, यहीं हूँ। कृपा है।"

वे निस्संकोच खुलकर बोले, ख़रीद भी होती जाती थी। एक हैट, कुछ ग्लब्ज़, और कुछ और चीजें जिनकी अँग्रेज़ी नहीं आती, ख़रीदी गई। तब फिर हाथ पकड़कर मुझे साथ ले चले। मुझे उनके बोलने में थोड़ी कहीं 'स्वामित्व की' ध्वनि मालूम हुई, बाक़ी कुछ नहीं।

"कहो भाई, क्या करते हो ?"

"मास्टरी से पेट भरता हूँ।"

मेरा भी पुराना साहस लौट आया। फिर अच्छी तरह बातें होने लगीं।

पता लगा बी० एस-सी० के बाद वे इँग्लैंड चले गये थे। वहाँ से हालेंड-डेनमार्क। उनका विषय गोरक्षा और गोवर्द्धन था। इस सम्बन्ध में वहाँ बड़ा काम हो रहा है। सब देखा। उसी ओर की कोई डिग्री भी लाये हैं। गो-सेवा की ओर उनकी पहले से प्रवृत्ति है। वहाँ जाकर देखा कि इस सम्बन्ध में हिन्दुस्तान में काफ़ी किया

जा सकता है। यहाँ वहाँ से भी ज्यादा सुविधाएँ हैं। उन देशों में ही जाकर हिन्दुस्तान की इस सम्बन्ध की परिस्थिति का अध्ययन किया। ताज़े नये वैज्ञानिक तरीक़े उपयोग में लाये जायँ, तो यहाँ गो-वंश खूब बढ़ाया और उन्नत किया जा सकता है। लेकिन इस ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। भारत कृषि-प्रधान देश है। गो-वंश पर उसका आधार है। इसलिए गो-सेवा के प्रश्न में ही उसका लाभ है। भारत की स्वतन्त्रता भी उसी प्रश्न में संश्लिष्ट है। खेद है कि नेता इस ओर ठीक ध्यान नहीं देते। उनका यही काम होगा कि इस प्रश्न के महत्त्व को प्रकट करें। वे एक गोशाला (डेयरी) खोलने जा रहे हैं। बिलकुल आधुनिक तरीक़े पर। उससे दूध शुद्ध मिलेगा, और गो-वंश की रक्षा और उन्नति के सब उपाय काम में लाये जायँगे। गो-वंश कैसा क्षीण होता जा रहा है, और भारत सो रहा है, धिक्कार है!

इस सबका आशय समझ मैंने आश्वासन दे दिया, "डेयरी खोलिए। सेर-भर दूध रोज तो मैं ले लिया करूँगा, अपने मित्रों से भी कहूँगा।"

उन्होंने भी देखा, उनका निष्काम लेक्चर व्यर्थ नहीं गया।

तब और और बातें हुईं। अभी, १५-२० दिन हुए, ही लौटे हैं। बड़ा खर्च पड़ता है। पाँच साल में १२ हज़ार। परदेश बड़े अच्छे हैं, जी होता था, वहीं रहने लगूँ। भारत का ऋण है। उसे चुकाना होगा। भारत को खींच कर उसी पुराने गो-सेवा के लक्ष्य पर लाना होगा। पहले......

फिर वही लेक्चर था जिसे मैंने बड़े धीरज से बर्दाश्त किया। घर के पास आया तब बोले....

"अच्छा..."

मैंने भी कहा, "अच्छा।"

"भाई, कभी-कभी मिल लिया करो।"

"ज़रूर मिल लिया करूँगा। डेयरी का पता तो लगेगा ही।"

"हाँ-हाँ। क्यों नहीं? वाह!"

इस तरह घर के दरवाज़े पर लौट जाने को मुझे स्वतन्त्र छोड़ वे चले गये।

पुराने अभिन्न मित्र को पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। घर में जाकर बात सुनाई—सबने मुझे भाग्यशाली स्वीकार किया, और अपनी-अपनी श्रद्धा-भेंट उनके दरवाजे पर चढ़ाने को सोचा।

: ४ :

उसके बाद दो-एक दफ़े देखा तो उनमें अन्तर पड़ गया था। बाकी बात वही थी—कपड़े बदल गये थे। यह नहीं कि मूँछें रखा ली हों। हाँ, अब खद्दर की टोपी, और आन्ध्र की मलमल-सी खद्दर की धोती और कुर्ता और चप्पल। बग्घी में बैठे होते थे। मैं पटरी पर चलता होता था—बग्घी सर से निकल जाती थी। कभी देख लेते तो मुस्करा पड़ते थे। तब वे अपनी डेयरी की जुस्तजू में थे, और नेताओं से मिलने-मिलाने का काम करते थे।

आखिर एक दिन दिन-दहाड़े ऐसा बीच-सड़क चल रहा था कि बग्घी को अपने आप रुकाना पड़ गया। वे उतर आये। बोले, "कहाँ जा रहे हैं, प्रसाद जी?"

"दरियागंज।"

"तो चलिए, मुझे भी उसी तरफ़ जाना है। बैठ चलिए।"

मैं निष्कण्टक बैठ गया। तब पता मिला, डेयरी के काम का आरम्भ हो गया है। कभी वहाँ पहुँचने का निमन्त्रण भी मिला। "आओ भाई, किसी दिन देख जाना। कुछ नहीं तो सैर ही सही। दूर तो है ही। यहाँ से कुल ३-४ मील जगह होगी।" मैंने कुछ हाँ-हाँ हूँ-हूँ कर ही दिया।

तब कितनी ज़मीन ली गई है, किस तरह उसे बोने के लिए

बाँटा है, गायों की क़िस्म और तादाद और विशेषताएँ, और गुण-गान और उनका महत्त्व आदि-आदि का अविरल बखान मैंने भी सुन लिया। उनकी गाड़ी में बैठा था। पर आपसे धीरज से न सुना जायगा, इसलिए जाने दें।

उनका रास्ता जहाँ अलग होता था, वहाँ—

"अब...यहाँ..."

"मैं चट से बग्घी से कूद पड़ा।"

"देखो, प्रसाद, आना। किसी दिन भी आ जाना। नहीं तो मैं ही ले चलूँ?"

मैंने भी कह दिया, "यही ठीक होगा। घर पर आठ बजे मिलूँगा—चला चलूँगा—इतवार को।"

"अच्छा, मैं गाड़ी लेता आऊँगा। ध्यान रखना।"

"अच्छा।"

उनकी बग्घी चली गई और इतवार को घर पर नहीं आ सकी। पीछे पता चला, आवश्यक काम लग गया था।

: ५ :

मेरे घर एक स्वामीजी आये हुए हैं। असहयोग के ज़माने ने उन्हें अकस्मात् संयोगवश प्रसिद्धि दे डाली है। पर प्रसिद्धि उनके योग्य नहीं है। प्रसिद्धि जैसी बाज़ारू चीज़ उनके साथ लगी अच्छी नहीं लगती। वे उससे घबराते भी हैं। मुझ पर उनका विशेष अनुग्रह है। मेरे वे पिता और गुरु सरीखे हैं। मेरे इस अधःपात के ज़माने में भी उन्होंने अपना अनुग्रह मुझ पर से नहीं उठा लिया है। वे बड़ी जगह ठहरने और जाने से बचते हैं, और मेरे ही यहाँ ठहरते हैं।

दिल्ली की तंग गलियों और मकानों में उनकी उन्मुक्त आत्मा चैन नहीं पाती, इससे वे दिन में और रात में ज्यादातर बाहर

निकल जाते है। हाँ, खाने का तो हमारे यहाँ ठीक है, बाक़ी कुछ नहीं।

इतवार का दिन था। मेरी छुट्टी थी। स्वामीजी ने कहा, "हम तो जाते हैं।"

"कहाँ जाइएगा?"

"जिधर को चल दिया।"

"अच्छा ठहरिए," मैंने कहा और मित्र की डेयरी जाने के आमन्त्रण की बात सोचनी आरम्भ कर दी। दिन अच्छा है, चलो यही सही और आज ही सही। अपने ऐसे बढ़िया मित्र को दिखाकर अपने मन की भी थोड़ी शाबाशी जीतने की इच्छा हुई। स्वामीजी की निगाह में मैं कुछ उठ ही जाऊँगा। बोला—

"स्वामीजी, एक जगह चलते हैं। एक डेयरी है, खुली जगह है, खेती भी है। मेरे एक पुराने मित्र का स्थान है।"

"चलो।"

मैं, मेरी स्त्री, छोटा बच्चा और स्वामीजी—गाड़ी लेकर हम चारों चल दिये। दोपहर होते-होते वहाँ पहुँच गये। मित्र वहीं मिले।

बड़ी लम्बी-चौड़ी जगह है। यह गायों के रहने की जगह है, हाँ दुही जाती हैं; यहाँ चरती हैं, वगैरह।

जमीन इस तरह बाँटी गई है, इतने में चरागाह, इतने में नाज की खेती, इतने में साग-भाजी, थोड़े में फल-फूल—उधर ईख है—यह सब-कुछ भी; पानी का भी इन्तज़ाम किया, इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अब बहुत ठीक हो गया है, खर्च बड़ा पड़ गया है—आदि-आदि व्यवसाय की बातें भी; दूध ऐसे ठीक रहता है, जर्म्स नहीं रहने चाहिए आदि-आदि ज्ञान की बातें; अपने इस आदमी की और उस गौ की शिकायत और तारीफ़—इस प्रकार मित्र ने फुटकर सूचनाओं और ज्ञान का

भण्डार हमारे सामने पटक दिया। हमने कुछ सुना, कुछ नहीं सुना और बाकी बिखेर दिया।

हमने गो-सेवा के और कमाई के इस काम को देखकर प्रसन्नता जतलाई।

तब खाने की कुछ इच्छा प्रकट की। लेकिन यह भूल गये कि इस साल पाला कड़ाके का पड़ा था। खेती का सत्यानाश कर गया। चने के पौधे मरे पड़े हैं, बूँट अभी न जाने कब आयेंगे; बाल गेहूँ की आई नहीं, झुलस गई है, इसी से मटर में भी दाने नहीं पड़ पाये हैं। आखिर एक ज़रा ठीक-सा चने का खेत दीख पड़ा है। किन्तु हैं!

"उसमें फूल आ गये हैं, उसे नहीं। मैं दूसरा खेत बताता हूँ। वहाँ चने का साग ठीक मिलेगा।"

मेरी स्त्री ने चौंककर उस फूलदार चने के साग पर से हाथ उठा लिये। दूसरे खेत पर पहुँचे—कोंपल तोड़-तोड़कर खाकर कुछ तुष्टि प्राप्त की। मित्र इस बीच अपने इस उद्योग की अवस्था हमारे सामने फैलाते रहे—

"खेती यों होती, पर यह पाला...?"

पता चला गाजर-मूली हैं। उन्हें ही मँगाओ भाई! आखिर लौट कर आये और दुग्धशाला के आगे खुले मैदान में खाट डालकर बैठ गये। पेंसिल-सी मूलियाँ और अंगुल-भर की गाजरें धोकर तश्तरी में पेश की गईं। हम चार जने एक तश्तरी-भर ये 'फल' कैसे खा जाएँगे?—तश्तरी सामने पेश करके सभ्यता भी यह देखने खड़ी हो गई है। इससे कुछ तो भूख ही खाई और बड़े आहिस्ते से उठाकर तश्तरी में रखी इन फलों की एक-एक तराश खाई। खा चुके तब मित्र ने हुक्म दिया और तश्तरी नौकर उठा ले गया।

लेकिन बच्चा भूख नहीं निगल सका है। और मेरी स्त्री भी

ज़रा-ज़रा... । मैं बड़ा सभ्य बन रहा हूँ, मानो वह तराश भी मेरे पेट में जाकर बैठ रही हैं । स्वामीजी बड़े प्रसन्न हैं ।

एक बात भूल गई, गायों को दुहने वाले आदमी को छह रोज़ हुए एक गाय ने लात मार दी थी । उसके आँख में लगी, आँख बेकाम हो गई, और उसे अलहदा कर देना पड़ा । अभी तक दूसरे आदमी का बन्दोबस्त हो नहीं पाया है, इसलिए उससे ही काम चलाना पड़ता है । इस तरह मिकदार से आठ पौण्ड दूध कम दुहा जाता है । कारण बताया गया—

"दुहने की एक खास प्रणाली होती है, जोर भी पड़ता है । आदी होने की बात है—जो नहीं जानता वह... ।"

लेकिन कारण जानने को हम बहुत उत्सुक नहीं हैं । बस, हो गई बात कि आठ पौंड दूध कम होता है ।

तो शाम हो रही है । अब चलना चाहिए । उधर सामने ही पौने दो-सौ पौण्ड दूध तुल चुका है । अब सील लगा के बाजार में जायगा । बँधे गाहक हैं, वहीं पहुँच जाता है । बल्कि आठ पौण्ड कम दूध होने से बड़ी मुश्किल हो रही है । डिमाण्ड ज्यादा है, सप्लाई कम—फिर उसमें से भी ये आठ पौण्ड कम हो गये हैं । बड़ी मुश्किल है ।

कैसा साफ़-सफ़ेद गाढ़ा दूध भर रखा है और कितना सारा ! बच्चे ने माँ से कहा और मैंने सुना । पर मैं चुप रहा । स्वामीजी ने भी सुना, वे भी चुप रहे और हँस पड़े ।

आखिर बच्चे की ख़ातिर स्त्री को बेहयाई भुगतनी पड़ी । अलग बुलाकर कहा, "बच्चे के लिए थोड़े दूध को कह दो ।"

मन करारा बनाकर मैंने जवाब दिया, "हाँ-हाँ, सो क्या बात है !"

मैंने फिर मित्र से कहा, "भाई, डेयरी में आये, दूध चखा ही

नहीं, यह भी कोई बात है ? मित्र पानी हो गये, बोले, "भई प्रसाद, आठ पौण्ड..."

आगे की बात नहीं कहूँगा। चुप कर देने वाली सफ़ाई थी।

जी हुआ उस पौने दो सौ पौण्ड दूध में थूक दूँ और कीमत देकर मुकाबले को खड़ा हो जाऊँ। लेकिन कहा, "जाने भी दो। तो क्या हुआ ? ऐसा क्या मैं कुछ नहीं समझता ?"

फ़ौरन हम चले आये। बच्चा भूखा रहा, पर रास्ते में कोई बाजार थोड़े ही पड़ता है जो कुछ लेकर दे दिया जाता !

: ६ :

घर के सब लोग इकट्ठा हुए—स्वामीजी ने हँसकर कहा, "देखे, आपके मित्र ? यही तो दुनिया है।"

मैं बचाव पर उद्यत हुआ, बोला, "वे...। लेकिन...।"

पर बात कहने को मिली नहीं। स्वामीजी ने कहा, "तुमको भी ऐसा ही बनना चाहिए, समझे !"

मैं चुप।

तब से स्त्री को अच्छी बात कहने को मिल गई है। और मैं चुप हो जाता हूँ। पर मैं अब भी समझता हूँ—लाचारी एक चीज़ होती है, और नीयत पर हमला न होना चाहिए।

लेकिन स्वामीजी सब बातों पर हँस देते हैं।

कः पन्था

शहर के बड़े लोगों ने एक क्लब खोल रखा है, 'द वीज' (The we's)। उस क्लब के सदस्य गिने-चुने हैं। इस शान के क्लब मैंने अमेरिका और विलायतों में देखे हैं, यहाँ तो दूसरा नहीं देखा। लाचार जब भाषण देने मैं पहली बार वहाँ गया, तब लालचन्द से मेरा परिचय हुआ। शहर के सबसे बड़े जौहरी का वह सबसे छोटा पुत्र था।

व्याख्यान समाप्त हो गया और क्लब के सदस्यों से परिचय-लाभ कर जब मैं चलने लगा, तब क्लब के मन्त्री और लगभग अन्य सभी सदस्य हाल के द्वार तक मुझे पहुँचाने आये। उस समय एक व्यक्ति आगे बढ़कर, खड़ी हुई मोटरकार का दरवाजा खोल, विनीत भाव से अभिवादन-पूर्वक मेरे समक्ष आ खड़ा हुआ। निर्दोष उज्ज्वल खादी के वस्त्र पहने, विनय की मूर्ति बना, इकहरे बदन का वह बाईस-चौबीस वर्ष का युवा बालक मुझे बड़ा भला मालूम हुआ।

क्लब के मन्त्री ने अँगरेजी में कहा, "मैं आपका परिचय तो करा ही न सका। काम में आगे बढ़कर नाम के समय आप सदा

पीछे ही रहते हैं। यहाँ के मशहूर....जौहरी आपके पिता हैं। आप हमारे क्लब के खजांची हैं, मिस्टर लालचन्द जौहरी।"

मैंने कहा, "मैं बहुत खुश हूँ।"

लालचन्द अभिवादन में तनिक झुका। मेरे साथ आते हुए मन्त्री से उसने शुद्ध अँगरेजी में कहा, "ओह, तुम कष्ट न करो। आपको मैं ही स्थान पर पहुँचा दूँगा।"

मैं मोटर में बैठा और मेरे पीछे आकर लालचन्द मेरे बराबर बैठ गया। गाड़ी रोल्स-रॉयल थी और जिस स्वाभाविकता के साथ उसने शोफर को अमुक ओर चलने के लिए कहा, उससे स्पष्ट था कि लालचन्द गाड़ी का मालिक है।

गाड़ी चली और कुछ देर लालचन्द चुप बैठा रहा। मुझे प्रतीत हो रहा था कि चुप ही बैठे रहने के लिए शायद उसने मन्त्री को कष्ट न करने का परामर्श नहीं दिया है। वह कुछ कहना चाहता है; लेकिन कदाचित् उसे राह नहीं सूझ रही है।

तब मैंने कहा, "तो आप जौहरी हैं। जवाहरात का काम भी करते हैं?"

"जी हाँ, कुछ करता भी हूँ। मुझे लोगों ने यों ही क्लब का खजांची चुन लिया है।"—स्पष्ट अँगरेजी में उसने कहा, और कहता रहा, "आपकी वक्तृता से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मेरी बातों के लिए क्या आप मुझे क्षमा करेंगे? आपने भाषण में इंजील के उस वाक्य को दोहराया था, जिसमें लिखा है कि हाथी का सुई के छेद से निकलना आसान हो सकता है; पर धन वाले के लिए ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना उससे भी कठिन है। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या वह ठीक है?"

मैंने उस लालचन्द नाम के बालक युवक की ओर देखा। दिखाई दिया, उसके मुख पर जिज्ञासा है। वह जैसे कृपा का प्रार्थी है। मानो वह अभी कातर हो आयगा। इंजील के इस वाक्य के

प्रति जैसे वह किसी प्रकार निश्चिन्त नहीं हो पाता है। मानो स्वर्ग-राज्य में उसी के प्रवेश अथवा अप्रवेश का प्रश्न है।

मेरे मन में उस बालक के प्रति करुणा हुई। मैंने पूछा, "तुम्हारे प्रश्न का क्या आशय है ?"

उसने उसी शुद्ध और प्रभावोत्पादक स्वर में कहा, "यही कि मैं जानना चाहता हूँ कि इंजील की इस वाणी का क्या वही अभि-प्राय है, जो उसके शब्दों का अर्थ होता है ?"

हमारी बातें अँगरेजी में हो रही थीं। मैंने हिन्दी में कहा, "मेरे भाई, उस वाक्य से क्या तुम्हें यह अनिवार्य रूप से स्मरण हो आता है कि तुम धनशाली हो ? क्या मैं पूछ सकता हूँ कि यह गाड़ी तुम्हारी है ?"

"जी हाँ, यह गाड़ी मुझे अपनी ही कहनी होगी। मेरे मन को शान्ति नहीं है। इंजील का वह कथन मुझे अपने लिए अभि-शाप मालूम होता है; किन्तु, मुझे सन्देह है कि उस जैसे पवित्र ग्रन्थ में किसी श्रद्धालु के लिए शाप हो सकता है। मैं जानना चाहता हूँ कि तब क्या वह वाक्य ज्यों-का-त्यों सत्य नहीं है ?"

मैंने फिर सच्चिंता-पूर्वक लालचन्द के मुख की ओर देखा। देखा, मानो वह त्रस्त है। कुछ बोझ उसे बराबर दबा रहा है।

"क्या आप कहेंगे कि उसका अर्थ साधारण शब्दार्थ से कुछ भिन्न है ?"

मैंने पूछा, "तुम ईसाई तो नहीं हो न ?"

"नहीं।"

"तब कौन धर्मावलम्बी हो ?"

"मैं जैन हूँ। इससे आप असन्तुष्ट तो नहीं हैं कि मैं जैन हूँ ?"

मैंने कहा, "मेरे भाई, कैसी बात तुम कहते हो; लेकिन जैन होकर तुम को बाइबिल का एक वाक्यांश क्यों इस प्रकार सताता

है ? जैन-धर्म भी क्या ऐश्वर्य को इसी प्रकार अभिशप्त ठहराता है ?"

लालचन्द ने कहा, "जैन-धर्म में सर्वोपरि त्याग की महिमा है। सब कुछ तजना होगा। निर्ग्रन्थ हो जाना होगा। परिग्रह की ओर से दिगम्बर। किन्तु, वैभव दुष्कृति का लक्षण है, ऐसा वहाँ कथन नहीं है। प्रत्युत वह तो पुण्य का फल ही बताया गया है।"

मैंने कहा, "तब तुम क्यों चिन्तित होते हो ?"

लालचन्द ने कहा, "बहुत इच्छा-पूर्वक तो चिन्तित नहीं होता हूँ। क्या चिन्ता में कोई सुख है ? किन्तु बाइबिल की वह पंक्ति तो मेरे मन को लगती ही है। टाले से टलती नहीं। आपकी वक्तृता सुनकर मैंने सोच लिया, आप से मैं अपना प्रश्न पूछ लूँगा।"

हम लोग चले जा रहे थे। मेरा स्थान अब दूर नहीं था। मुझे लालचन्द का प्रश्न शास्त्रीय प्रश्न की भाँति न लगा। मुझे प्रतीत हुआ कि इस बात को जीवित समस्या बनाकर यह लालचन्द अपने लिए मानसिक क्लेश उपस्थित कर सकता है।

मैंने कहा, "निसन्देह, बाइबिल की बात झूठ नहीं है; किन्तु ऐसा इसलिए नहीं कि जड़ धन-सम्पत्ति बहुत बड़ी चीज़ है, प्रत्युत इसलिए है कि मनुष्य अति क्षुद्र प्राणी है। धन-वैभव क्या इतनी बड़ी वस्तु है कि परम सत्य को और स्वर्ग के राज्य को अपनी ओट में ढक ले ? अवश्यमेव नहीं है; पर यह बात तो इसलिए कही गई है कि मनुष्य इतना दुर्बल और दुर्बल होने के कारण इतना अहंकारी है कि दुनिया के धन-वैभव से अपनी दृष्टि को जकड़ लेता है। समझता है, वह अपने को समर्थ बना रहा है; किन्तु इस प्रकार धन-मद का सहारा लेकर वह अपने को पामर ही बनाता है,—अपने चारों ओर मान-मर्यादा की लकीरें खींचकर अपने को बन्द और संकीर्ण ही बनाता है। धन-सम्पत्ति में भी तो

परम-पिता का प्रयोजन है; किन्तु अति दीन, अति क्षुद्र मानव उससे अपने को बाँध लेता है। मेरे भाई, इंजील का कथन मनुष्य की इसी क्षुद्रता के कारण है।"

लालचन्द के समक्ष जैसे लालच का द्वार खुला; किन्तु वह उसे बन्द ही रखना चाहता है। उसने आविष्ट स्वर में कहा, "तो स्वर्ग का राज्य धनिक को अप्राप्य नहीं है?"

मैंने कहा, "जिस प्रकार धनिक को यह अप्राप्य नहीं है कि वह अपने को परम-पिता का भिखारी और मनुष्य का सेवक समझे, उसी प्रकार उसे स्वर्ग और शान्ति भी अप्राप्य नहीं है।"

लालचन्द ने पूछा, "तो मैं यह मोटर रखे रह सकता हूँ?"

मैंने कहा, "दे भी डाल सकते हो, और रखे भी रह सकते हो। देकर भी स्वर्ग तुम्हें अप्राप्य हो सकता है, और उसे रख कर भी तुम स्वर्ग को प्राप्त पा सकते हो। मेरे बच्चे, तुम को क्या क्लेश है?"

मेरा स्थान पास आ गया था। लालचन्द ने कहा, "क्या मैं कभी आपकी सेवा में आऊँ, तो आपका बहुत हर्ज होगा?"

मैंने कहा, "नहीं-नहीं, मुझे बहुत खुशी होगी।"

वह मेरे घर के दरवाज़े तक मुझे पहुँचाने आया। उसने मुझे प्रणाम किया। बहुत धीमे-धीमे, मानो बोलने में उसे कष्ट होता हो, उसने कहा, "मैं आपका बहुत ऋणी हूँ; लेकिन मैं आपका बालक हूँ।"

मैंने कहा, "मैं तुम्हें जानकर बहुत प्रसन्न हुआ।"

अन्त में वह भक्ति-पूर्वक मुझे प्रणाम कर चला गया।

* * *

उसके बाद लालचन्द मुझे कहाँ मिला? हाँ, एक-आध पार्टी में, जहाँ मैं विवशतः ले जाया गया था, वह दिखाई दिया। सदा

वही उज्ज्वल खद्दर का लिबास होता । चिन्तित मुस्कराहट से मुस्कराता वही मुख और हल्की समीर की भाँति तरल शिष्ट व्यवहार। मैंने देखा, विनय-नम्र, संकोच के कारण बातचीत में कहीं-कहीं वह अब हकला उठता है। वाक्यों की स्वच्छन्दता और प्रवाह में जैसे कुछ धीमापन आ गया है। शब्दों में सूक्ष्मता और निर्बलता आ गई है। शब्दों के पीछे संकल्प-शक्ति मानो धीमी होती जा रही है—मन की शंका गहरी उतरती और फैलती जाती है। मैंने कहा, "कहो लालचन्द, अच्छे तो हो ?

उसने नमित मुस्कान के साथ कहा, "आपकी कृपा से मैं प्रसन्न हूँ।"

मैंने मालूम किया कि पिछले दिनों अपनी जवाहरात की दुकान पर जाना उसने बहुत कम कर दिया है। अपने मत के मन्तव्यों में पिछले दिनों उसने धार्मिक श्रद्धा प्राप्त की है। व्रत-उपवास करता है, दर्शन-पूजा करता है और यति-मुनियों की सङ्गति-सेवा करता है। अपने धर्म के शास्त्र बाँचना उसने शुरू किया है। वह अपने को दुनियादारी से खींचकर जैसे संक्षिप्त बनाना चाह रहा है।

मैंने पूछा, "कहो भाई, तुम्हारे क्लब के और सब लोग कुशल-पूर्वक तो हैं ?"

उसने कहा, "जहाँ तक मुझे ज्ञात है, सब आनन्द-पूर्वक हैं।

मैंने पूछा, "क्यों क्या आजकल उन लोगों से मिलना नहीं होता ?"

उसने कहा, "उस क्लब से मेरा अब सम्बन्ध नहीं रहा।"

मैंने आश्चर्य प्रकट किया, और जानना चाहा कि ऐसी क्या बात हुई है।

मालूम हुआ, बात कोई विशेष नहीं हुई है। करोड़पति का पुत्र है; इसीलिए तो वह क्लब का सदस्य था। निर्धन का पुत्र होने

पर तो वह नियम-पूर्वक उस क्लब का सदस्य भी न हो सकता; इसलिए उसने वह क्लब छोड़ दिया है।

मैंने देखा लालचन्द पहले से कुछ पीला हो गया है। उसने मुझ से क्षमा माँगी कि इच्छा करके भी वह मुझ से मिलने का अपना सौभाग्य न बना सका। उसने कहा, "वह बड़ी उलझन में है, और अवश्य जल्दी ही मुझ से मिलना चाहता है।"

इसके बाद जब कभी मैंने उसे देखा, देखा कि वह उसी ओर बढ़ रहा है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और क्षीण से क्षीणतर होता जाता है। उसके चेहरे पर विमलता के साथ चिन्ता की छाप बढ़ती जाती है। चेहरा नुकीला होता जाता है, वाणी में अधिकाधिक संकोच आता जाता है। बात मुँह से मुश्किल से निकलती है। निकलती है, तब मानो क्षमा-याचना करती हुई। सङ्कल्प-शून्य और संदिग्ध-सी बनी ध्वनि मानो कुहरे की भाँति उसके शब्दों को डसे रहती है।

मुझे मालूम हुआ, चार भाई उसके और हैं। वे सब हृष्ट-पुष्ट हैं, दुबला-पतला वही है। खद्दर भी घर-भर में वही पहनता है। पढ़ा-लिखा सब भाइयों में वही ज्यादा है, बी० ए० पास है, और बुढ़िया माँ का वही सब से प्यारा है।

इन पार्टियों में ही मुझे उसके और भाई भी मिले। सबसे बड़े भाई अति सुन्दर, स्वस्थ पुरुष थे। चेहरा सुर्ख खिला रहता था। उनकी बात में जोर होता था और धमक। कुछ अजब रोब उनके व्यवहार में था। अँगरेजी भाषा से उन्हें साधारण परिचय था; किन्तु ऊँची-से-ऊँची सभा-समाज में वे विशिष्ट और मान्य पुरुष की भाँति गौरवशीलता के साथ व्यवहार करते थे। उनकी हँसी निस्संकोच होती थी। उनका बदन दोहरा था। बेफिक्री और विलास मानो उनके शरीर से विकीर्ण हो रहा था। उनकी अवस्था लगभग पैंतालीस के लगभग थी; पर वे पैंतीस के-से दिखाई देते

थे। पेरिस में पाँच-सौ रुपये खर्च कर हवाई जहाज से उनके लिए पानों की एक ढोली भेजी गई थी, पान के वह ऐसे शौकीन थे। न्यूयार्क में तो पान पाने में और भी ज्यादा खर्च किया था। उनसे मिलकर व्यक्ति का सुखी न होना असम्भव था। कुलीनता उनके परिच्छद से और शालीनता उनके तमाम व्यक्तित्व से मानो फूटती रहती थी। अत्यन्त अनुग्रह-पूर्ण प्रेम-भाव से वे सबसे मिलते थे। लालचन्द ने मेरा उनसे परिचय कराया। उनका नाम मानिक-चन्द था।

लालचन्द की अनुपस्थिति में उन्होंने मुझ से कहा, "स्वामी जी, इस लालचन्द को समझाइए न। काम-धन्धा छोड़ कर जाने किस फेर में रहता है!"

मैंने कहा, "आप लोगों के कहने-सुनने का कुछ परिणाम नहीं हाता है क्या? यों तो लालचन्द बहुत समझदार है।"

मानिकचन्द के ऊपर के ओठ में तनिक वक्र पड़ा। उन्होंने कहा, "समझ ही तो उसे खराब कर रही है। अपने अन्दर न समाय वह समझ बिगाड़ ही करती है। आप उससे कहिए, अगर वह चाहे तो उसे अलग दुकान करा दी जाय। घर में बीवी है, बाल-बच्चे हैं। अब समझ न आयेगी; तो आगे क्या होगा?"

मैंने कहा, "ठीक तो है। मैं उससे कहूँगा कि भाई, समझदार होकर समझदारी का रास्ता क्यों छोड़ते हो?"

मानिकचन्द ने कहा, "जाने यह कैसा लड़का है! हम नहीं चाहते कि वह दुकान में ही लगे। तबियत हो तो दुनिया की सैर करे। कमी तो उसके लिए है नहीं; लेकिन यह वैरागीपना, स्वामी जी, बड़ी बुरी बात है। एक आप हैं, अकेले हैं, पालने-पोसने को कोई साथ बँधा नहीं है; इसलिए आप स्वामी हों, तो हो भी सकते हैं। स्व-पर-उपकार ही अब आपके लिए काम है; लेकिन लालचन्द की ऐसी उमर भी नहीं है, हालत भी नहीं है।"

मैं मानिकचन्द से मिलकर खुश हुआ।

और भाई भी मानिकचन्द की ही राह पर थे, और खुश थे। उन्हें अपने साथ कोई शिकायत नहीं थी। उन्हें अपने में कुछ गलब नहीं दिखाई देता था। मजे में रहते थे। चिन्ता-विचार का अधिक परिग्रह नहीं रखते थे। वे लोग सब समाज में मान्य, कर्मशील, तत्पर आदमी थे। अधिक-से-अधिक यही तो कहा जा सकता था कि वे सदाचारी नहीं हैं; किन्तु उपपत्नियाँ हैं, अथवा प्रेमिकाएँ हैं, या वेश्यागमन के सम्बन्ध में दृढ़प्रतिज्ञ नहीं हैं, तो इससे उनके जीवन में क्या अक्षमता आती थी? वे सब-के-सब आत्म-तुष्ट, स्वस्थ, प्रसन्न, मान्य, मिलनसार और मधुर-भाषी थे।

लालचन्द ने सबसे मुझे मिलाया। मैं मिलकर खुश हुआ।

* * *

इसके बाद एक दिन वह मेरे स्थान पर आया। उस समय किसी बड़ी दुविधा में मालूम होता था। वह मेरे साथ पुण्य और पाप की चर्चा चलाने आया था। वह जानना चाहता था कि क्या कृत्य पुण्य है, और क्या पाप? क्या वह जो बातें कर रहा है, उससे सूक्ष्म जीवों की हिंसा नहीं होती? क्या हिंसा पाप नहीं है? वह इस सम्बन्ध में भी अविश्वस्त मालूम होता था कि यहाँ बैठा जो मुझ से बात कर रहा है, वह पुण्य ही है पाप नहीं।

मुझे ज्ञात हुआ कि इधर वह प्रतिदिन तीन-तीन घण्टे मन्दिर में बैठता है। वह अत्यन्त सतर्क रहता है कि अशुभ भाव उसके मन में न आने पावें। वह पहले से और भी पीला हो गया था, और अधिक हकला कर बोलता था।

मैंने कहा, "तुम्हें धर्म के बारे में इतने अणुवीक्षण की आवश्यकता नहीं। धार्मिक जीवन दिव्य जीवन है। दिव्य जीवन अल्पप्राण जीवन नहीं है। महाप्राणता वास्तविक तत्त्व है। पाप-पुण्य के विवेक की राह से मनुष्य अपना पोषण करता है। उस

राह के बीच में होने का प्रयोजन यह है कि वह इतना पुष्ट बने कि भय की उसे आवश्यकता न रहे; इसलिए कृत्य के अन्दर पाप-पुण्य नहीं है, वरन् मनुष्य के भीतर की भीरुता और अनधिकारिता के कारण उसके लिए कुछ पुण्य है और कुछ विगर्हणीय पाप।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं लालचन्द की दृष्टि से निषिद्ध क्षेत्र पर जा रहा हूँ। मैंने कहा, "मेरे बच्चे, पाप-पुण्य की उलझन को और मत उलझाओ। मनुष्य को इष्ट तो वह अवस्था है, जहाँ से पाप-पुण्य नीचे ही रह जाते हैं; लेकिन ज़ीने को नीचे छोड़ने के लिए चढ़ना भी ज़ीने से ही होगा। मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या तुम मेरी बात मानोगे?"

लालचन्द का तनिक भी समाधान होता प्रतीत न होता था; किन्तु मुझे ज्ञात हुआ कि वह मुझ से कुछ-न-कुछ की तो अपेक्षा रखता है। मैंने कहा, "लालचन्द, मैं तो यह देखता हूँ कि तुम अपने भाइयों के साथ उसी दूकान पर नहीं बैठ सकते, तो अलग व्यवसाय चलाओ। कुछ व्यवसाय तुम्हें अपने कन्धे पर उठाना ही चाहिए। आजीविका के लिए जो मनुष्य को कोई धन्धा करना जरूरी हो गया है, यह बात विधाता की ओर से निरी प्रयोजन-हीन मत समझो। यह धन्धा चलाकर आदमी को पता चलता है कि दुनिया में जीवन अकेला नहीं है, अकेले का नहीं है, अकेले वह नहीं चलेगा; लेकिन कुछ आदमी हैं, जो बिना धन्धे के भी रहते हैं। उनमें से मैं भी तो एक हूँ। दूसरों की दी हुई भिख हमारा भोजन है। वही हमारी वृत्ति है; लेकिन भीख के भोजन पाने की वृत्ति के अधिकार तक आदमी जीवन में कुछ ज़ीने पार करके ही पहुँचता है। आरम्भ में तो स्वभाव को पुष्ट करना होता है। अपने को स्वस्थ और आत्मप्रतिष्ठित करना होता है। विविध उपादानों से लड़कर अपने तई आहार जुटाना और जीवित रहना

तथा रखना होता है। जब व्यक्ति आत्मस्थ हुआ, तब जीवन के समस्त संगृहीत उपादान स्वयमेव परिग्रह होने लगते हैं। और, तब वह अपने को जगत् की सदभिलाषा पर छोड़ देता है। स्वयं भी अपने लिए नहीं रहता—विश्व के लिए रहता है। तुम पाप-पुण्य की बात करते हो, अतः मैं तुम से कहता हूँ कि इस समय कोई धन्धा लेकर बैठना तुम्हारा परम धर्म है। कर्म से विमुख होकर मन्दिर में उपासना करने में अपने को भूलने का यत्न करना अधर्म है। स्वाधीन भाव से दूकान लेकर व्यवसाय करो, और उसी को उपासना बना लो। व्यवसाय में भी तुम प्रामाणिकता न तजो, यही सब-कुछ है।"

मैंने इसी भाँति उससे कुछ और भी बातें कीं। मैंने देखा, कुछ उसमें अटक है। जो कुछ भीतर अटका है, उसे वह चाहकर भी बाहर नहीं ला पाता। 'स्त्री' शब्द भूलकर भी उसकी बातों के आस-पास मैं नहीं पाता। मैं देखता हूँ, वह जवान है। तीस-बत्तीस वर्ष से अधिक उसकी उम्र कभी नहीं हो सकती। उसकी चर्चा में स्त्री-तत्त्व की गन्ध तक के अभाव के प्रति ही मुझे शंका होती है। मैं अपेक्षा रखता हूँ कि वह कभी घर-परिवार आदि की भी बातें मुझ से करे। मेरी समझ में नहीं आता, स्त्री-प्रेम की बातें उससे क्यों एकदम दूर होनी चाहिएँ।

मैंने कहा, "लालचन्द, तुम मुझे अपना समझ लो। जब जो चाहे मुझ से कह सकते हो।"

मैंने देखा, अब भी उसमें चर्चा चलाने की चाह है कि जीवन का मोक्ष क्या है?

जीवन का मोक्ष क्या है, यह मैं बेचारा भी क्या जानता हूँ। लेकिन लालचन्द को सामने लेकर उस मोक्ष से कहीं अधिक मैं यह जानना चाहता हूँ कि लालचन्द इस मोक्ष-चिन्तन के पीछे किस ठोकर से उलट कर पड़ा है।

लेकिन मुझे कुछ भी हाथ नहीं आया, और वह विविध विषयों पर आध्यात्मिक चर्चा चलाकर, कुछ सन्तुष्ट और कुछ विषण्ण, लौट कर चला गया।

* * *

उसके बाद एक रोज़ अँगरेज़ी बाज़ार के बीच से पैदल जा रहा था कि क्या देखता हूँ, दौड़कर लालचन्द ने मुझे पकड़ लिया और कह रहा है, "स्वामीजी, आइए, पधारिये।"

इस समय लालचन्द का मुख वैसा कर्त्तव्य-शून्य नहीं है, और उस पर कुछ प्रफुल्लता भी दिखाई देती है। मैंने कहा, "कहो भाई, कहाँ ले चलोगे?"

उसने पास ही एक बहुत बड़ी और शानदार दूकान की तरफ़ दिखाकर बताया कि वह 'ईस्ट इंपोरियम' उसी की निज की दूकान है। मुझे प्रसन्नता हुई; लेकिन मेरे मन में ज़रा खटका भी हुआ कि इस आदमी में यह कारबारीपन का लक्षण नहीं है कि अब तक मुझ-जैसे स्वामी आदमी की उसे चिन्ता है। वह मुझे दूकान में ले गया और अभ्यर्थना-पूर्वक अपने इस उद्यम के हालचाल सुनाने लगा। उस समय भी मैंने उसमें वह पुरानी प्रकृति जागृत देखी। देखा, पाप से भय और पुण्य की चिन्ता उसमें लगी ही रहती है, और वह कुछ आध्यात्मिक विषयों पर वार्तालाप करने की आवश्यकता में उलझा ही है।

अगले दिन मानिकचन्द मेरे स्थान पर मुझ से मिलने आये और मुझे धन्यवाद देने लगे कि लालचन्द अलग दूकान लेकर बैठ गया है। उन्होंने बताया कि एक हज़ार रुपये माहवार का भी नुकसान हो, तो भी हर्ज नहीं है; लेकिन लड़का तो सम्भलने पर आया है। उन्होंने बताया कि सचमुच लालचन्द खूब परिश्रम-पूर्वक काम करता है, व्यवसाय के मामले में खूब चौकस है। और यह,

कि उन्हें बिलकुल उम्मीद न थी कि वह अपनी जिम्मेदारी इतनी महसूस करेगा...।

दो साल तक, मैं समझता हूँ, मुझे यदा-कदा 'ईस्ट-इंपोरियम' का वह बड़ा बोर्ड दिखाई देता रहा। उसके बाद मुझे नहीं मालूम क्या हुआ। दूकान वही जवाहरात और अजायबात की वहाँ रही; पर बोर्ड वह न था। मुझे लालचन्द भी नहीं मिला, न उसके सम्बन्ध की और कोई सूचना ही मिली। मैं बीच-बीच में लालचन्द के प्रति अपने भीतर सस्नेह चिन्ता का अनुभव करता था, और मुझे अचरज भी था कि दो-तीन वर्ष हो गये हैं, लालचन्द के विषय में मुझे कोई सूचना क्यों नहीं मिली। आज अभी दो घण्टे पहले रतनचन्द (लालचन्द का भाई) मेरे पास होकर गया है। उसने मुझे बताया कि लालचन्द पागल हो गया है। वह घर के एक कमरे में खाली तख्त पर रस्सी से बँधा हुआ पड़ा है। वह चीखता-चिल्लाता है और उसकी बुरी हालत है। नाखूनों और दाँतों से अपने को काट लेता है। रतनचन्द ने चाहा कि मैं उसके साथ तुरन्त घर चलूँ। मैंने कह दिया, "मैं तीन-चार घण्टे बाद आऊँगा; क्योंकि में यों नहीं जाना चाहता, कुछ सोचकर जाना चाहता हूँ।"

क्या आप लोगों को लालचन्द के साथ इतना वास्ता अनुभव होता है कि मुझे लाचार करें कि लौट आने पर बताऊँ कि मैंने क्या पाया?

आम का पेड़

रसीली और गरमागरम होती जाती हुई हमारी बातचीत में अभी तक उसने कुछ भाग नहीं लिया। अब वह बोला—

'नहीं, मैं आप लोगों से सहमत नहीं हूँ। प्रेम को सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं। वह अपनी शक्ति से सौन्दर्य उत्पन्न कर सकता है। वह प्रेम क्या, जो बाहरी सौन्दर्य पर टिक रहे। प्रेम सत्य वस्तु है; अर्थात्—बिना किसी का सहारा लेकर वह स्वयं-सिद्ध स्थित रहने वाली वस्तु है। उसमें बल होगा, तो निराधार में से आधार उसे प्राप्त हो जायगा। नहीं तो, निर्बल होने पर, रति और काम-देव के सौन्दर्य का भी आधार उसे दिया जायगा, तो उस पर भी टिककर नहीं ठहर सकेगा। खिसक कर गिर जायगा, और फिर कुछ और आधार ढूँढेगा। वह प्रेम नहीं, प्रेम का आभास है, प्रेम का उपहास है। या यों कहें, प्रेम का आयास है। प्रेम वह होता है, जो भीतर से फूटकर बाहर छा जाता है और जहाँ बरसता है, उसकी असुन्दरता और उसके गुण-दोष मिटा देकर उसे कमनीय सर्व-सुन्दर बना छोड़ता है। जिसे जगाने और जगाये रखने के लिये बाहरी रूप दरकार हो, वह मानों सजग नहीं, वह सच्चा नहीं।....''

हमने मन-चाहा पाया। इस प्रमोद में कुछ देर और यह भाप चढ़ती रही, तो जरूर कोई नई बात सुनायगा। जाने कहाँ-कहाँ की क्या-क्या बातें इसे आती हैं।

प्रेमकृष्ण ने कहा, "सुन्दरता की बिलकुल जरूरत नहीं, तो क्यों नहीं हम किसी बदसूरत को प्यार करने लगते?"

प्रमोद को अवरोध नहीं मिलना चाहिये। मिला कि भाप घुटी। फिर फट पड़े, तो और मुश्किल। पर यह भला हो गया कि जो गर्मी उसमें चढ़ी, गुह्य अंतर्प्रान्त में एकरस बहती हुई रस-धारा में से उठकर कहीं से कुछ शीतल वाष्प उसमें आ मिली। उसने प्रेमकृष्ण को देखा। क्षणेक देखकर कहा, "कौन कहता है, नहीं करते। तुम-हम, सब करते हैं।"

प्रेमकृष्ण ने कहा, "घर पर एक बुढ़िया आई थी। पगली-सी थी। बाल कटे थे। चिथड़ों से सजी थी। मुँह से लार टपक रही थी। आँखें चुन्दी-चुन्दी, कीच से सनी थीं। नाक से द्रव निकल कर अलग बह रहा था। नौकर से एक चुटकी चून दिलवा, मैंने उसे दूर करवा दिया, कि फिर उसकी शकल दीखे नहीं, आवाज़ आये नहीं। नहीं क्यों मैंने उसे प्यार किया?"

प्रमोद अब मानो पैना होगया। जब यह मनःस्थिति होती है, तब मनुष्य के तर्क की तलवार पैनी होकर दुधारी हो जाती है, सबको काटती है और अपने को भी काटती है। बोला, "नहीं किया तो तुम्हारा पाप, उसका क्या दोष? अपनी कमी के लिए उसे क्यों घृण्य सिद्ध करते हो? तुम में घृणा न हो, तो कोई घृण्य कैसे हो जाय? और तुममें घृणा है, यानी तुममें गड़बड़ है। और, अगर तुममें घृणा उत्पन्न हुई थी तो क्या तुमने उसे इसीलिए नहीं भगा दिया कि तुम उस घृणा को विषम हो उठने देना नहीं चाहते थे! क्यों नहीं चाहते थे? क्या इसका कारण यह नहीं हो सकता

कि भीतर से कोई प्रेरणा कह रही थी—'घृणा ग़लत है, ग़लत है, वह विदेशी है, मैं स्वभावगत हूँ, मुझे उसकी जगह आने दो।' तुम्हारी घृणा बल खाकर करुणा में न बदल जाय, और वह करुणा फिर शुद्ध होते-होते प्रेम न हो जाय, इसी डर से तुमने उसे भगा दिया। क्योंकि उस प्रेम को झेलने की तुममें सामर्थ्य न थी। इसी अटूट, अगाध, अनपेक्ष प्रेम की सामर्थ्य के कारण ईसा ईसा थे, बुद्ध बुद्ध। क्षुद्र और विराट् में अन्तर इसी सामर्थ्य की अपेक्षा से है।...नहीं?...नहीं, तो उसके सामने स्वस्थ होकर नहीं टिक सके, उस भिखारिन को भगा कर ही चैन पा सके, इसका कारण और क्या हो सकता है?"

प्रेमकृष्ण ने कहा, "और तुम उसे प्यार करते? मैं भी देखता, तुम कैसे उसे प्यार करते हो!"

प्रमोद सहसा कुछ रुका। रुक कर कहा, "मैं? मैं भी प्यार न करता मैं भी तुम सब जैसा हूँ, कोई अलग थोड़े ही हूँ। लेकिन सचाई को हमारे अवलम्ब की जरूरत क्या, वह हमारे बिना भी है।"

प्रेमकृष्ण ने उकसाते हुए कहा, "त्रुटि और सत्य की बात कहने से तो तुम्हारी बात प्रमाणित होती नहीं। यह बताओ कि हम सुन्दरता से निरपेक्ष होकर प्रेम कहाँ करते हैं। इसके उत्तर में यह कहने से काम नहीं चलेगा कि हम सब आदमी हैं, देवता नहीं।"

प्रमोद हलका-सा मुस्कुराया। उस मुस्कुराहट से, बात में विनोद की गुञ्जायश निकल आई, अवश्य; पर बात की गम्भीरता जैसे और बढ़ गई। पूछा, "अच्छा, तुम्हारी प्रेम-पात्री सुन्दर है? कैसी सुन्दर है?"

हम हँसे। प्रेमकृष्ण को अब जैसे अपने मनकी-सी धरती मिली। लगा, जैसे अब प्रमोद कुछ समझ की-सी बात पर आ

रहा है। अभिनय के भाव से, जिसमें से यथार्थता का भाव अपने आप दीख पड़ रहा था, कहा, "ऐसी...कि बस!"

यही बात प्रमोद ने मुझसे पूछी। मुझे भी कोई उपयुक्त उपमा ढूँढे नहीं मिली। यह प्रकट कर दिया कि अतीव सुन्दर है।

किन्तु हमारे विनोद और अभिनय का भाव उस समय टिकना कठिन हो गया, जब हमने देखा की बारी-बारी से वह प्रश्न हम में से हरेक से किया जा रहा है और हर एक उत्तर में यही जताता चला जा रहा है कि उसकी-सी प्रेयसी की मूरत और कहीं नहीं मिलेगी। और बात किसी की भी झूठ न थी। क्योंकि हममें से जो विवाहित थे, अनिवार्य रूप में उनकी प्रेमिका उनकी विवाहित पत्नी नहीं थीं। और जो अविवाहित थे, उनकी प्रेयसी वह थीं, जिनसे विवाह असम्भव-प्राय होता। कारण, अप्राप्य में ही आदर्श का आरोप है, और वहीं पहुँचकर आकांक्षा गड़ती है।

हममें से एकाध ही शेष रह गया था कि प्रेमकृष्ण ने कहा, "यह क्या तमाशा बना रहे हो, प्रमोद। कुछ कहते भी हो कि सबका भेद ही लेने चले हो!"

प्रमोद ने इसकी पर्वाह न करते हुए, हम में से शेष बाबू वंशलोचन की ओर मुड़कर कहा, "हाँ, साहब, अब आपकी...?"

बाबू वंशलोचन ने आधे ओठों से नपी हँसी हँसी, और उत्तर देने में तत्क्षण अपने को समर्थ न पाया। इस अपनी असमर्थता पर झेंपते हुए वह फीके होकर बलात् मुस्कराते रहे।

"आपकी प्रेयसी कोई नहीं है? कोई नहीं??—आपको अभागा कहूँ, या भाग्यवान?"

वंशलोचन और अधिक फीके हुए और तनिक अधिक ओठ फैलाकर हँसते रहे, बोल न सके।

"अरे भाई और कोई न सही, तो तिजोरी तो होगी? यह भी नहीं कह सकते कि वह बड़ी सुन्दर है?"

इस समय प्रेमकृष्ण ने बीच में पड़कर कहा, "सबसे पूछते हो, तुम्हीं क्यों नहीं बताते, तुम्हारी प्रेयसी कैसी है ?"

प्रमोद ने कहा, "मैं भी आप लोगों के साथ हूँ और शर्त लगा कर कह सकता हूँ कि वह इतनी सुन्दर है कि विधाता ने बनाई नहीं है, विधाता से बन गई है; और अब वह स्वयं, बन जाने के बाद, उसे सम्भ्रम के साथ देखकर 'हाय-हाय !' कर रहे हैं।··· सबसे बढ़-चढ़ कर एक सुन्दरी को चुन लेने का दायित्व और अवसर हम लोगों पर आ पड़े, तो हम लोग कैसे फैसला करें। अन्त में एक ही चुनी जाय न ? शेष फिर कम सुन्दर या असुन्दर ठहरें। लेकिन उन-उनके प्रेमी हम लोग क्या इससे सन्तुष्ट हों ? क्या हम यह मान लें कि हमारी प्रेमिका आदर्श सुन्दर नहीं है ? अगर पूरे जी से प्रेम करते होंगे, तो हम कभी यह नहीं मानेंगे। अब जो एक प्रकार से असुन्दर ठहरती है, उसको सबसे सुन्दर किसने बनाया ? आपकी आँखों में सबसे विशिष्ट सौन्दर्य उसको किसने प्रदान किया ? आपको किसने लाचार किया कि इस मामले में आप बिलकुल न हारें, तर्क की न सुनें, बहुसम्मति की और निर्णायकों की न मानें, और कहें कि सब से सुन्दर वही है। वह आपके भीतर का प्रेम है। तर्क, सौंदर्य को क्या जाने ? उसके लिए प्रेम चाहिये। वह नहीं, तो सौंदर्य मिट्टी। वह है, तो सब-कुछ सुन्दर। प्रेम के लिए प्रेम चाहिये।"

प्रेमकृष्ण—"तो हम सब-कैसी को, सब-किसी को प्रेम कर सकते हैं—कानी-लूली ? घोड़ा-बिल्ली ?"

प्रमोद—"नहीं भी कर सकते और कर भी सकते हैं। और क्या मालूम हम करते भी हैं ! मुझे एक बार एक गाँव जाने का मौका हुआ···

बस, इसी का तो सब झगड़ा था। हम प्रसन्न होकर चुप बैठ गये। उसने कहना शुरू किया—

: २ :

"...एक मित्र ने बुला भेजा था! मैं इधर शहर से ऊब रहा था। कहीं खुली हवा में पहुँचना चाहता था। मैं तुरन्त चला गया।

मित्र के थोड़ी ज़मींदारी थी। भाई बाहर जाकर कहीं ओवर-सियरी करते थे और माहवार अपने वेतन से ड्योढ़े रुपये घर भेज दिया करते थे। मित्र खेती-बाड़ी की देख-भाल कर लेते थे, आराम और ईमानदारी से बसर करते थे। ठाले में साहित्य का प्रेम भी कुछ साथ लगा लिया था। चैन से दिन गुजर जाते थे।"

एक रोज बोले, "पास गाँव में एक तेरहवीं की ज्योनार है। चलो, तुम भी चलो।"

किसी के मरने पर तेरहवें दिन तेरहीं कर लोग खूब खाने-पीने और खिलाने-पिलाने का आयोजन किया करते हैं। यह मुझे मालूम था; पर वैसी किसी ज्योनार में न्योता मिलने पर मैं क्या करूँगा, यह नहीं मालूम था! मैंने कहा, "मुर्दे की ज्योनार में जाना कुछ ऐसा ही-सा लगता है। यह भी कोई ऐसी बात है, जिसको ज्योनार का मौका बना लिया जाय! मेरा तो जाने को जी नहीं होता।"

लेकिन मित्र घसीटते हुए ले ही गये। यह सोच कर कि अकेला बैठा मैं गाँव में क्या करूँगा, मैं भी खिंच गया। सिद्धान्त मैं छाँट सकता हूँ; पर दुनिया में उनका बहुत बोझ पीठ पर रख कर मैं झुका-झुका नहीं चलता। वे ओढ़ने-बिछाने के तो किसी काम आते नहीं, फिर उनका पुलिंदा क्यों व्यर्थ खींचते ले चलने को साथ रक्खा जाय।

लेकिन मैंने सोचा था, बाहर से नहीं, तो भीतर से असहयोग करूँगा। वहाँ चर्चा छेड़ूँगा कि यह कैसी बुद्धि-शून्य प्रथा साथ

लगा रक्खी गई है कि मुर्दे का जीमन करो! जो जीते हैं, वे मुर्दे की याद मान कर ही क्यों खायें? खाने-पीने के आयोजन के लिए अवसर ढूँढते हैं; तो और पर्व-त्यौहार कम हैं, जो बेचारे मुर्दे के नाम पर ही हमारी भूख टूट कर पड़ती है! घर शोक से भरा होगा; पर जीमन करने का ध्यान रखना होगा। नहीं रक्खोगे, तो बिरादरी रखवा लेगी। और फिर बिरादरी वाले पत्तल पर ऐसे टूट कर गिरेंगे कि...

खाना तो खैर मैंने खा लिया। उस समय तो कुछ छेड़ना ठीक न होता। टोटा अपना ही रहता। लेकिन, खाना खाकर जिन्हें जाना था, वे चले गये और जिन्हें बैठना था, वे जमकर बैठ गये, और हुक्का घूमने लगा, तब मौका देखकर अपने मन के संकल्प की बात मैंने धीमे से निकाल कर बाहर छोड़ दी। कहा, "यह तेरहीं के जीमन की प्रथा कुछ बहुत अच्छी तो नहीं मालूम होती। लोग क्यों फिजूल खर्च करने के लिये ऐसे कुसमय को मौका बनाते हैं?"

उसी गाँव के एक प्रौढ़-वयस्क पुरुष ने कहा, "हमने तो जगतराम से बहुत कहा, ऐसा करने में कुछ फायदा नहीं है। जो हो गया; उस पर न तो बहुत सोच-फिकर करनी चाहिये, न आज-कल इन कामों में खरच करने के दिन हैं। और बात भी कुछ ऐसी न थी। पर..."

मैंने कहा, "लोगों को बिरादरी की फिकर रहती है। और फिकर न करें, तो जायँ कहाँ। जन्म तो इसी में गुजारना है, फिर भी..."

उस वृद्धप्राय ने कहा, "नहीं, नहीं। हम सब लोगों ने तो बहुत कही; पर उसने एक नहीं मानी। हम भी समझते हैं, अब दिन ऐसे आ गये हैं कि पैसे पर हाथ भीचना होता है। अभी दो महीने की बात है, अपनी महतारी की तेरहीं के वखत यह मान

गया था। तब हमने जीमन देने की बात पर जिद्द नहीं की। लेकिन यह आम का पेड़ क्या था, माँ से भी बढ़ गया। ऐसी पेड़ की मुहब्बत तो हमने कहीं नहीं देखी।"

आम का पेड़! आम का पेड़ क्या? मेरी समझ में नहीं आ सका। आप लोगों की समझ में भी नहीं आया होगा। आये कैसे? हम मुहब्बत की जड़ में सुन्दरता देखना चाहते हैं। वहाँ लाकर रखने लगे कोई 'आम का पेड़', तो समझ में कैसे आये। मैंने पूछा, "आम का पेड़ कैसा?"

उन चौधरी ने कहा, "कैसा क्या, मामूली-सा एक पेड़ था। आम भी कभी-कभी देता था, और कम देता था। और मीठे भी कुछ ऐसे नहीं होते थे। सो आज तेरह रोज़ हुए गिर गया। उसका यह नौता था। हमने बहुत समझाया; पर वह माना ही नहीं। खर्च करके ही दम लिया। कोई ऐसा पैसे-वाला भी नहीं है। अब बोलो, जीमन नहीं करता, तो क्या जाता था। कोई उससे कहने जाता था कि जीवन कर, या क्यों नहीं किया? पर अपने-अपने मन की बात है। मन में जो समा जाय, थोड़ा। इस मन का ही पागल होता है। और यह क्या कम पागलपन है। अब भी उसे उसी की धुन रहती है। पेड़ न हुआ, क्या हो गया! बाबूजी, मैं सच कहता हूँ। पेड़ वह कौड़ी काम का नहीं रह गया था। फल अगले साल भी दे जाता, तो बहुत मानो। खोखला हुआ खड़ा था। अब न गिरता, दो दिन बाद गिरता। गिरना-गिरना तो हो ही रहा था। उस पर ऐसा करना बाबूजी, तो कोई समझ की बात है नहीं।..."

वह पुरुष इसी तरह बहुत देर तक कहे जाता, क्योंकि जान पड़ता है, वह इस जगतराम के प्रति गहरे भाव रखता था। नहीं तो जिसे जगतराम की अनसमझी और पागलपन कह रहा है, उसके सम्बन्ध में इतना चिंतित होने की उसे आवश्यकता न थी।

मैंने पूछा, "वह पेड़ गिरा कैसे ?

उसने कहा, "गिरा तो था, जी, किसी आँधी के झोंके से। और सच बात तो यह है कि उसकी आयु सम्पूर्ण हो गई, तो गिर गया। और भगवान् की ऐसी ही मर्ज़ी होगी। कोई चीज़ सदा तो जीती नहीं। पर जगतराम समझता है, उसने दो रात पहले उसकी मौत मनाई थी, सो उससे गिरा। इसी का तो उसे बड़ा सोक है। पर हम-तुम क्या करते हैं, सब-कुछ ईश्वर करता है, यह समझाते हैं, तो वह सोक में कुछ नहीं समझ पाता।"

मैंने कहा, "उसने उसकी मौत क्यों मनाई थी ?"

उसने कहा, "मौत क्यों मनाई थी, जी, इसका तो लम्बा किस्सा है। उस पर झगड़ा चल निकला था। एक कहता था कि यह आधा पेड़ मेरा है, मेरी ज़मीन यहाँ तक आई है। और वह कहता था कि पेड़ पुराना हो गया है, अपने हक़ से मैं इसे कटवा डालूँगा। फल कुछ आते हैं नहीं, लकड़ी बहुत-सी काम की निकलेगी। बात बाबूजी, सब झूठ थी। पेड़ पुश्त-दर-पुश्त जगतराम के ही घर में चला आ रहा है। पर लाठी पास हो, तो किसी की भैंस हेर लो। कोई बोले तो लाठी है ही। सो, आज-कल ज़बर्दस्त का सब-कुछ है। अदालत भी उसकी है, दोस्त भी उसके हैं, पैसा भी उसका है। ये सब आपस में एक-दूसरे के बन कर रहते हैं। और उसके पास पेड़ नहीं थे, सो बात नहीं थी। कई-कई बाग़ थे। लकड़ी की, और पैसे की किसी बात की कमी नहीं थी। पर कमी नहीं होती, तभी तो रार सूझती है। काम करना पड़ता नहीं, उन्हें कहा, "ठाले-बैठे यही सही। दूसरे की जान पर आती है, उन्हें ठाले-बैठे का धन्धा हो जाता है। सो, जगतराम को संशय नहीं रह गया कि पेड़ आधा उसके हाथ में चला जायगा, और वह उसे कटवा डालेगा। पेड़ को जीते-जी कटता हुआ जगतराम कैसे देखेगा ? सो, उन्ने मनाया, राम इसे गेर दे।

आप गिर जाय, तो चाहे सब लकड़ी इसकी वही लेले ।- और, राम की करनी दो रोज़ बाद वह पेड़ सचमुच धरती पर आ रहा । सोही उन्ने तेरहीं करी और अब बड़ा बैवल हो रहा है ।"

मैंने पूछा, "उसके घर में कौन-कौन हैं ?"

उसने बताया, "कौन-कौन क्या, कुल दो ही तो जने हैं । महतारी मर ही गई, बहू मर ही गई । बेटी थी, सो अब पराये घर की होकर आनन्द में है । जगतराम है, और किरपा है । किरपा जवान, मेहनती लड़का है । बाप का सहाई होगा और बाप का कुल चलायगा । कुल का उजागर होगा—बड़ा अच्छा लड़का है । पर इस जगतराम की मत को एकदम क्या हो गया है कि किरपा के ब्याह की बात चल रही थी, सो पाँच-सात रोज़ से उस बारे में भी चुप हो बैठा है । लड़की वाले बहुत-बहुत कह रहे हैं; पर वह सुन सब लेता है, कहता अपनी एक नहीं । देखो, बहू आये तो घर, घर हो जाय । घर की आस तो बने । बिन घरनी कहीं घर होता है ।...और दो रोटी का भी ठीक हो जाय । पर, जगतराम के मन जाने क्या समस्या है कि कोई बात उसके जी नहीं आती ।"

पूछा, "क्यों, ऐसी क्या बात है ?"

"...यही तो कि बात कुछ नहीं है । कहता है कि कुल तो अब उखड़ गया, अब नहीं जमेगा । विधि का लेख ऐसा ही है । माने बैठा है कि यह पेड़ उसके वंश का पेड़ था । वह गया कि वंश भी गया । आदमी की मत ऐसी जड़ हो जाय, तो फिर उससे क्या बस चले । सो ही हाल जगतराम का है । कुछ कहो, कैसी भी कहो, उसके मन नहीं जमती । वह समझता है, जैसे विधि के मन की बात यह जानता है ।—आप, बाबूजी, बने तो उसे समझाना । नहीं तो यों ही झुर-झुर के अपने आपको सुखा लेगा ।..."

यह जगतराम किस प्रकार अपने वंश की भवितव्यता के

इतिहास का इस पेड़ के अस्तित्व के साथ ऐकात्म्य स्थापित करके मानो अपने भाग्य से निपटारा किये बैठा है, यह मैं किसी तरह भी स्पष्ट करके न समझ सका। यह धारणा क्योंकर उसके मन में फूटकर और फिर वहाँ गहरी जड़ें डालकर जीवन पर ऐसी छा फैली, कि फिर मानो शेष सब-कुछ उसकी छाया के तले आ रहा, उसके तले ही पला,—वह छाया हट जाय, तो और सब-कुछ भी मुर्झा ही जाय! पिता-पुत्र—परम्परा से जगतराम के कुल ने इस आम को बोकर, उगाकर, सींचकर, अपने स्नेह के आदान-प्रदान द्वारा उसके जीवन के साथ अपने भावी इतिहास को मानो बाँध डाला था—वह आम का वृक्ष नहीं रह गया था, वह उनके वंश का वृक्ष हो गया था। उसमें उनके भाग्य-विधायक वंश-देवता का आरोप हुआ था!

मैंने जानना चाहा, कि क्या वह, सच, इस पेड़ के मिटने को अपने वंश के लोप होने के सम्बन्ध में विधना का निर्देश समझता है?

मुझे बताया गया, कि वह ठीक यही समझता है। और इसलिए न निराश है, न हताश है। आशा का वहाँ घात हो, या वहाँ उसका अभाव अखरे, जहाँ वह हो अथवा उसकी सम्भावना हो। जहाँ आशा का ही अवकाश नहीं, वहाँ निराशा का भी दुःख नहीं। उस वृद्ध के शब्द ही मैं आपको सुनाऊँ। उसने कहा, "वह समझता है कि पेड़ गया, तो हमें भी चलना है। चलना तो, वह कहता है, सभी को है। यह हमारा भाग्य है कि चलने की खबर हमको पहले ही लग गई। सब पर तो परमात्मा ऐसी दया नहीं करते कि जना दें। अब इतना तो है कि मन को पहले से यहाँ के धन्धों से खींच लेंगे, और खुशी-खुशी यहाँ से चले जाएँगे। और दूसरों को भी नहीं फंसाएँगे। किरपा का ब्याह कर देते, तो एक बिचारी लड़की का अपजस हमारे सिर होता न। अब खबर

मिलने पर किसी की बेटी को दु:ख में डालने का काम नहीं करेंगे। अब तो हम किसी की बुराई में नहीं रहेंगे। हमारा कुछ रहा क्या है, जो किसी के बुरे बनने और बुरे करने की बात आये। सब हमारे और हम सबके और हमारा कुछ नहीं; क्योंकि हम तो अब रामजी के हो गये, वहीं हमें जाना है।..." आदि।

जगतराम के सम्बन्ध में इसी प्रकार की और जानकारी पाते रहना मुझे भारी हो रहा था। मन पर जैसे बोझ लदा जाता हो। यह दृश्य क्या सुखकर है कि मौत को आगे रखकर एक आदमी उसके मुँह में झुकने के लिये मामूली ढंग से अपने कदम बढ़ाता हुआ जा रहा है? मौत की जगह मौत का ख्याल ही सही; लेकिन क्या इससे दृश्य कुछ अधिक सुखकर हो जाता है?

किन्तु वृद्ध के भीतर से जगतराम के नाम पर ऐसी गहरी सहानुभूति की भाव-धारा फूट पड़ती है कि शब्दों के अनन्त अपव्यय से भी वह खर्च नहीं हो सकती, यह मैंने जान लिया। और इसलिए, जिस-तिस तरह अपनी मुद्रा से यह प्रकट हो जाने दिया कि जगतराम के बारे में इतनी ही जानकारी को लेकर मैं कहीं अकेला आँख मूँद कर जा पड़ने का अवसर चाहता हूँ।

मेरा यह इंगित खोया न गया, और मैं छुट्टी पाकर, एक ओर एक खाट पर लेट गया, और सोचते-सोचते सो गया।"

: ३ :

"शाम होने आई और अब हम जाएँगे। अभ्यागतों में से अधिकतर गाँव के ही थे, वे अपने घर चले गये हैं। जो और आस-पास के गाँवों के थे, वे भी चले गये हैं। एक-दो और, और मैं और मेरे मित्र, बस इतने जने रहे हैं। हम आतिथ्य के लिये आभारी हैं, गृहस्वामी को धन्यवाद देकर और उनकी आज्ञा लेकर अब हम लोग जाने की प्रतीक्षा में हैं।

किरपा हमारी हाज़री में है, हुक्के को ठीक-ठाक करते रहने और कराते-रहने का ध्यान रख रहा है और यत्न कर रहा है कि हम लोग उसे अपना दास मान लेने में संकोच न करें, और उसके साथ बेखटके उसी तरह का व्यवहार करें। वह शेष दोनों सज्जनों का धन्यवाद हाथ जोड़कर साभार स्वीकार करता है, आतिथ्य की त्रुटियों के लिए लज्जित और क्षमा-प्रार्थी है। ठीक तरह से बोल भी नहीं सकता; क्योंकि अपनी हीनता और त्रुटियों से अवगत है, और नमस्कार करके और कुछ पग साथ चलकर उनको विदा देता है।

किन्तु हमको विदा वह नहीं दे सकेगा। 'पिताजी आयेंगे, तभी हम लोग जाने की इच्छा और कृपा करें, और उसे केवल सेवक मानें'—यह भाव कुछ टूटे-से शब्दों में प्रकट करके और कुछ अपनी मुद्रा में लिए रह कर, वह हमारी उपस्थिति में बड़े संकोच और साहस का सहारा लेकर उपस्थित है।

मेरे मित्र जमींदार हैं, मैं भी कदाचित् उनकी निगाह में सम्माननीय अतिथि हूँ, और जगतराम हम लोगों के साथ कुछ रास्ता चले बिना हमें विदा न दे सकेंगे। 'उनका बड़ा सौभाग्य है, और हम उन पर कृपा रखेंगे और समय-समय पर कभी उनके स्थान पर पधार कर उन्हें आनन्दित और धन्य होने का अवसर देने का कष्ट उठाने का अनुग्रह करेंगे'—यह निवेदन भी किरपा, जैसे-तैसे हम पर प्रकट कर देता है।

जहाँ की हवा सभ्यता से घुटी रहती है, और जहाँ का शिष्टाचार अदब-क़ायदों में इतना पाबन्द रहता है कि मन से उसका सम्बन्ध असम्भव हो उठे, उस शहर से टूटकर, मुझे लगा, मेरा सौभाग्य है कि, मैं यहाँ की स्वच्छ प्रकृति और मुक्त वायु में आ सका और इस सहज विनम्रता के दर्शन कर सका, जिसे कर्त्तव्य और सभ्यता की गन्ध भी नहीं लग पाई है। और जो आप ही

दूध के झाग के झरने की तरह हृदय में से फूट उठ रही है। उस समय वह बाल-युवक मेरे हृदय के निकट, मानों मेरा पुत्र ही हो उठा। और मुझे जान पड़ा कि यदि ऐसी आत्मीयता के भाव का उदय मुझ में इस क्षण हुआ है, तो किरपा तो अपने प्रकृत स्नेह-सिक्त हृदय की शक्ति से हम सबको अपने लिए आरम्भ से ही सगे चाचा-ताऊ-सरीखे बना सका है। मैंने उससे कुछ बोलने के लिए पूछा, "भाई,, तुम्हारे पिता कहाँ हैं ?"

उसने कहा, "आते ही होंगे। वह आपसे तो पल भी देर नहीं करेंगे। पर, वह गाय का बड़ा बछड़ा खूब शैतान हो गया है, वही देर करा रहा होगा।...बस, आते ही होंगे।..."

इस आत्मीयता के साथ बिना भूमिका के जो बछड़ा सामने ला दिया गया, वह आप-ही-आप मेरे निकट परिचित बन गया। एक शैतान बछड़ा कूद-उछल कर रहा है, खूँटे से बँधना ही नहीं चाहता, रस्सी समेत जगतराम को भी खींचते हुए ले चलने का दम भरकर इधर-उधर कुलाँचें मार रहा है,—मेरी सहानुभूति ने यह चित्र मेरी आँखों के सामने ला दिया।

मैंने कहा, "बछड़ा बड़ा शैतान है ?"

वह बोला, "अजी, क्या पूछो आप ? मेरे हाथ तो बँधता ही नहीं, मुझे मारने दौड़ता है। वह तो मैं बच जाता हूँ, नहीं तो..."

मैंने कहा, "बिलकुल सफेद है, माथे पर काला-काला...."

उसने कहा, "हाँजी, हाँजी, बिलकुल...। आपने कब देख लिया ?"

मैंने कहा, "देखा तो नहीं, यों ही कहा।"

उसने बताया, "माथे पै आधा काला चाँद-सा बन रहा है। और कहीं एक दाग नहीं, कैसा हो।..."

इतने में जगतराम का आना हो गया।

किरपा ने कहा, "आज उसने फिर हैरान करा होगा।"

जगतराम ने पूछा, "किसने ?"

किरपा ने कहा, "अजी, उसी ने—हरिया ने।" जगतराम ने शान्त भाव से कह दिया, "मैं और काम से आरहा हूँ।" और तुरन्त ही हम लोगों की ओर मुड़ कर दीन-मुद्रा से कहा, "देर बहुत हो गई, काम-पै-काम आते गये। अब निबट सका हूँ। आप जाएँगे ही ?...एक रात रह जाते, तो झोंपड़ी...झोंपड़ी ही है, और जो है, आपकी है।..."

ज्योनार में परोसते वक्त उसे देखा था। पर अब उसके उस अद्भुत परिचय को पाने के बाद जो देखा, तो जान पड़ा पहले कुछ नहीं देखा था। अब तो जैसे चेहरा-मोहरा नहीं, उस चेहरे-मोहरे के भीतर जो है, उसमें से भी कुछ-कुछ दीख रहा था।—माथे के किनारे आकर भौंहें भूल कर छा रही हैं, और नीचे उनके दो काली स्थिर आँखें हैं, जो चीजों को ऐसे देखती हैं, जैसे उनके आर-पार भी कुछ देख रही हैं।

"...आपने तकलीफ की और मैं कुछ कर नहीं सका। हम गाँव के ठहरे, मोटा-झोटा खाना ही जानते हैं, उसी को भगवान् का दिया मानकर, अपने खुश रहते हैं। आप तो...तो आप जाइयेगा ही न ? ठीक है, आपको यहाँ सुभीता क्या होगा।... किरपा, जा, बाबूजी को दो पान तो ले आ।..."

किरपा के जाने पर बताया कि किरपा बड़ा अच्छा लड़का है,—ऐंठ तो, हाँ, थोड़ी है। थोड़ी हेकड़ी तो होनी भी चाहिए। मुझे बुरी तो लग जाती है; पर सोचो तो बुरी लगने की बात नहीं है। नेक हेकड़ी न हो, तो आदमी जिये कैसे। दब-दब के मर जाय। और बड़ा आज्ञाकारी है। और ब्याह की उसकी बात चली थी, सो ब्याह में क्या ? अकेला-दम आदमी को रहना अच्छा,

जाने कब चल देना पड़े। और जाने, बाबूजी, लम्बी उमर किरपा को लिखी है या नहीं।"...आदि।

मैं जगतराम को देखता रहा। कह कुछ क्या सकता था। यह व्यक्ति मानो अपने को बिसार कर और बाहर के इसी-किसी को लेकर जीवन चला रहा है। उसकी अपनी अलग दुनिया, अपनी अलग बात कोई नहीं है। सबसे सब कहता है, और सबकी सब सुनता है। मानो अपने को समेट कर इस तरह मिटता-मिटता शून्य होकर सब में खो रहे—इसकी तैयारी कर रहा है।

इतने में किरपा पान ले आया। पान हमने ले लिये और हम चलने को उद्यत दीख पड़े। उसने कहा, "चलिएगा? चलिये..."

मित्र ने कहा, "तकलीफ़ की ज़रूरत क्या है। रास्ता तो सीधा है, आप बैठिये। नाहक हैरान होने की ज़रूरत..."

हैरानी और तकलीफ़ के ख़याल की व्यर्थता को जगतराम ने ज़रा देर में प्रमाणित कर दिया। हम तीनों चल दिये।

सड़क लगभग सीधी ही जाती है। गाँव से बाहर होकर हम सड़क पर आये और उस पर हो लिये। चुप-चुप चले जा रहे थे। मैं जगतराम के बारे में सोच रहा था। सोच रहा था कि अब इन बेचारों को और कष्ट नहीं देना चाहिए। काफ़ी रास्ता आ लिये। मित्र, क्यों न इनसे लौट जाने को कह दें? वह नहीं, तो मैं कहूँ? 'अब कहूँगा, कहता ही हूँ अब' सोचता हुआ आगे बढ़ रहा था। मेरे दायीं तरफ़ सड़क के किनारे एकाध क़दम पीछे जगतराम आ रहे थे, मित्र बाईं ओर मुझ से आगे थे। मित्र भी ज़रूर मन में जगतराम को बिदा कर देने की सोच रहे होंगे।

कि चलत-चलते सहसा जगतराम ने मेरा हाथ पकड़कर कहा, "जी, देखिये वहाँ—उस जगह था..."

मैं अनायास जगतराम की उठी हुई उँगली की सीध में शून्य दृष्टि से देखने लग गया। वहाँ क्या था, और उस अँगुलि-

निर्देश द्वारा सीधी तीर की तरह फेंकी जाती हुई 'वहाँ' नामक स्थान की सूचना को मैं इस लम्बे सपाट मैदान में किस विशिष्ट बिन्दु पर गिरती हुई देखूँ, यह कुछ भी न समझता हुआ, सीधा सामने देखता रहा। मित्र भी कुछ ऐसी ही हालत में होकर उधर को देखते रह गये।

"...ठीक वहीं था, जी। वह जो छोटा-सा बबूल दीखता है न, उससे ज़रा बीस एक क़दम इधर, बस, वहीं था।" और मेरा हाथ एकदम छोड़कर अपने दोनों हाथों की सहायता से मानो अपने अगले वाक्य को मूर्तिमान कर देते हुए कहा, "साब, ऐसा मीठा फल देता था कि... ! और एक दाना यह-यह जंगी !..."

किन्तु थोड़ी ही देर में उसे पता चल गया कि हम दिङ्मूढ होकर खड़े हैं और उसकी बातें सब हम पर खोई जा रही हैं। उसने कहा, "बाबूजी, चलिये, वहीं चलकर आपको दिखाऊँ। कुछ नहीं, यही कोई आधी फर्लाङ्ग जगह होगी। ज्यादे देर नही होगी।" यह कहकर वह आगे बढ़ लिया। हम भी हठात् पीछे-पीछे चले।

खेतों की मेढ़ों पर जगतराम के पीछे चलत-चलते मैंने समझ लिया कि हो-न-हो, यह उस आम के पेड़ की ही बात है।

आधे फर्लांग के नाम पर कोई आधा मील चलना पड़ा। खेत की मेड़ से उतरकर पास की बंजर-सी भूमि की ओर मुड़ रहे थे कि जगतराम ने कहा, "ऐं! सब सफाई कर दी! देखा बाबूजी? आदमी हो, तो ऐसा हो। गिनने को अभी बारह रोज़ हुए हैं कि एक छिपटी यहाँ नहीं छोड़ी, कैसी हो? मेरा आनेका मौक़ा तो लगना था नहीं, इस बीच क्या पेड़ और क्या पेड़ का निशान, सब सफा ...!"

हम उस बंजर धरती में आगये। कुछ झरबेरी की झाड़ियाँ

फैली थीं और पास ही एक गहरा गड्ढा था, और उसके किनारे वृक्ष का कटा हुआ, जड़ का तना पड़ा था। नसें सूख कर उससे चिपट रही थीं, धड़ कट चुका था, हड्डियाँ सूख कर उभर रही थीं। मिट्टी में, धूप में, मेंह में, इस खुले बियाबान ऊसर में अपने पुराने लहलहाते दिनों के स्मरण से खिझाता हुआ, मानो उसका कंकाल पड़ा हो, मानो भाग्य ने अच्छी तरह चिचोड़ने के बाद अपने मुँह के ग्रास का कोई कड़ा भाग अपनी दाढ़ में से निकाल कर डाल दिया हो।

जगतराम को लगा होगा, जैसे उसके हृदय में से खोद कर चेतना के, धमनियों और शिराओं के केन्द्र-रूप मर्म को निकाल कर काट-कूट कर उसे किनारे डाल दिया है, और वहाँ गड्ढा छोड़ दिया है। मैंने देखा कि उस सूने स्थान में गड्ढे को देख-देख कर आँसू से कोई भारी चीज़ कहीं से उठ कर उसकी आँखों में आगई। कुछ क्षण भरी आँखों से वह देखता भर रहा गया, जैसे उसके भीतर की समस्त चेतना उमँग कर आँखों में आई और वहाँ स्तब्ध हो रही। फिर सँभल कर उसने कहा, "बाबूजी, लकड़ी की कोई बात नहीं। ले ही जाता; पर ज़रा ठैर जाता तो उसका कुछ हर्ज होता? मुझे, सच, लकड़ी का क्या करना था। और ले गया है तो, भगवान् उसका भला करे। वह आदमी थोड़ा सबर और करता, तो मेरी आँखें मुँदने का दिन भी क्या दूर रह गया था। बस तभी तक का दुःख है। फिर, पेड़ कटे, चाहे जो हो।...बाबू-जी, कुछ कहो, पेड़ मैंने ऐसा नहीं देखा। आम का पेड़ कोई ऐसी चीज़ है, जो कहीं मिले नहीं? पर यह पेड़ तो तीन लोक में नहीं मिलता। यह-यह फल देता था। मौसम में चार पैसे आम की जोड़ी बिकती थी। जो जानते थे, वह जानते थे। दिल्ली में पूछते थे, 'यह सरली का आम है?' सरली का हो, फिर मुँह माँगे दाम ले लो। सरली इसी पेड़ का नाम था, हमारे बाबा के

बाबा ने बोया था, उनका नाम भी सरली था। ऐसा मज़बूत पेड़ कि आपने भी क्या देखा होगा। यह अनबन की बात न हो जाती, और मेरा मन न डूब गया होता, तो यह पिरलै में गिरता तो गिरता, पहले क्या गिरना और कैसा गिरना। और छाया वह, वह परले खेत की मेंड़ दीख रही है न, शाम को उसकी छाया उसके भी पार पहुँचती। ऊपर से ऐसा गोल गुंबद की तरह छा रहा था कि किसी ने हाथ से ही ऐसा बनाया हो। नीचे चलता बटोही सुस्ताने को बैठे. तो हरा हो जाय, और देखता रह जाय, और जी फिर उसका जाने को करे ही नहीं, ऐसी छाया होती थी। और यह जो यहाँ उगता कुछ नहीं है, सो यही वजह है। धरती का सारा रस खिंच कर उस पेड़ में चला जाता था, और चीज़ कुछ कैसे होती? और तभी तो फल ऐसे मीठे होते थे कि वाह!..."

इस अपनी बहक में एका-एक उसने अनुभव किया, कि उसकी बात-चीत में अत्यंत उत्सुकता के साथ दिलचस्पी लेने का हमारे पास पर्याप्त कारण नहीं है। उसको शायद यह भी ध्यान आया कि उसने इससे पहिले हमसे उस पेड़ का परिचय नहीं कराया है, और इसलिए उसका आकस्मिक विशद बखान, सम्भव हो सकता है, हमारी प्रीति का कारण न बने। उसने कहा, "पेड़ को आप नहीं जानते? कैसे जानेंगे? आज की तेरहीं उसी की थी। यों तेरहीं में क्या रक्खा है; पर मन भी तो कोई चीज़ है। उसी के मारे मैंने आप को इतनी तकलीफ दी, और फिर यहाँ खींच लाया। आप जाएँगे? अच्छा चलिये। वक़्त भी तंग हो रहा है। मैं भी कैसा बेवक़ूफ हूँ! उधर से नहीं, इधर से आजाइये, सीधी सड़क मिल जायगी।"

और सीधी सड़क मिल गई, और सड़क मिलने पर भारी हृदय से हम लोगों ने एक दूसरे से विदा ली।"

: ४ :

प्रेमकृष्ण ने कहा, "फिर क्या हुआ ?"

प्रमोद ने कहा, "मुझे क्या मालूम, फिर क्या हुआ।"

प्रेम०—"वह अब जीता है या नहीं और कृपा का क्या हाल है ?"

प्रमोद—"मैं फिर उधर गया ही नहीं, न पता लगाया।"

प्रेम—"तो यह क्या बात हुई ? तुम समझते हो कि वह मर गये होंगे ?"

प्रो० विद्यारत्न ने कहा, "तो इससे क्या साबित हुआ ? इससे कुछ भी साबित नहीं होता।"

प्रमोद ने कहा, "बात बेशक कुछ नहीं हुई। और मैं समझता हूँ, कृपा और जगतराम दोनों जीते होंगे।" फिर विद्यारत्न की ओर मुड़कर कहा, "साबित क्या हुआ ? क्या सब-कुछ साबित ही होना चाहिये ? यह साबित का रोग आजकल फैशनेबल होता जा रहा है, साबित करो, साबित करो। सिर को सदा साबित करने और करवाने में लगाया जाता है, उस सिर बिचारे से इसलिए कुछ भी और अच्छा काम नहीं हो पाता। 'तर्क करो, साबित करो, नहीं तो मैं तर्क से सिद्ध करता हूँ, शास्त्रार्थ करके देख लो' तुम बुद्धिमानों ने आज यह फ़ैल मचा रक्खा है। मुझे भी क्यों लालच देकर उसमें फँसाना चाहते हो ? यही हाल रहा, तो एक दिन होगा कि लोग कहेंगे कि साबित करो, हम गधे नहीं हैं। साबित नहीं कर पाओगे, तो वे गधे बन जाएँगे।...भई, मैं कब कहता हूँ, कुछ साबित हो गया..."

विद्यारत्न ने कहा, "तो कहो, तुमने बस एक कहानी कही है। यों ही बस लुत्फ़ के लिए।"

प्रमोद ने कहा, "हाँ, मैंने एक कहानी कही है। और, और, हाँ, बस आनन्द के लिए।"

और फिर प्रमोद बिलकुल चुप होकर बैठ रहा।

कश्मीर-प्रवास के दो अनुभव

: १ :

सन् १९२७ की बात है। तब राजनीतिक वातावरण में कर्मण्यता और प्रचण्डता वैसी नहीं थी। गाँधी की बात को गले से उतार कर उस समय यह भारत देश अलस-निमग्न भाव से, चुपचाप पचाने की क्रिया कर रहा था।

राजनीति-ग्रस्त व्यक्तियों को अपने जीवन के और पहलुओं को सँवारने और सँभालने का उस समय अच्छा सुयोग प्राप्त हो गया। कुछ ने उस सुयोग से, अपनी चतुराई के बल पर प्रचुर लाभ उठा लिया। वे अपने को कुछ बनाकर बैठे रहे—चाहे लौट कर फिर राजनीति में ही बैठे हों, या इधर-उधर हटकर समाज-नीति में, 'बार' में, व्यवसाय में या सरकार की किसी कुर्सी में बैठे हों ! और जो चूके, सो चूके।

महात्मा...जी को तब एक प्रयोग की सूझी। सूझी तो पहले भी होगी; पर रह-रह गई होगी। सन्' १० में उनके जीवन के विकास-क्रम को एक विशिष्ट दिशा मिली। सन्' १८ तक अव्याबाध गति से वह उसी दिशा पर उन्नत होता रहा। धार्मिक चेतना में से वह विकास उद्भूत हुआ था। त्यागमय उसका रूप था, आध्या-

त्मिकता उसकी प्रकृति थी। उस दिशा पर चल पड़ने पर वैसे प्रयोग की बात जीवन में आनी अनिवार्य ही थी। सन्' १८-१९ के गरमागरम काल में वह विकास राजनीति की पटरी पर आ रहा। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी ही अनुकूल मिलती चली गईं। यहाँ पर यह कहना नितान्त निर्भ्रान्त न होगा, कि जो हम खिलौनों को चलाता-भगाता है, उस मदारी लाइन्स-मैन की कुछ चूक ही हुई कि गाड़ी यों ग़लत 'शंट' होकर अनुपयुक्त पटरी पर चल पड़ी। बात यह है, कि हमें सब-कुछ चूक लग सकता है, होता सब-कुछ ठीक है। यही कहने को जी चाहता है कि वास्तव में इस प्रकार राजनीति पर चल पड़ने से उस मौलिक विकास की स्वाभाविकता में और सरलता में व्यतिरेक और व्याघात नहीं पड़ा, वरन् वह तो अधिकाधिक स्पष्ट और सम्पन्न होता ही चला गया।

यह जेल, वह जेल,—सन्' १८ के आरम्भ से लगाकर कई वर्षों तक बस यह हाल रहा। इस तरह जो बात मन में पहले भी उठ-उठ चुकी होगी, उसे अनुभव में उतार देखने का अवकाश अब कहीं सन्' २७ में आया। इससे पहिले कुछ और सोचने-करने की गुञ्जायश नहीं निकल सकी।

: २ :

मुझे तार मिला, कि अमुक दिन दिल्ली पहुँच रहा हूँ। रावलपिंडी जाना है। दो और साथ हैं। स्टेशन पर मिलो।

रावलपिंडी से कश्मीर रास्ता जाता है, यह मुझे तुरन्त याद आ गया। कश्मीर की भूख जी में थी ही। मन ने कुछ यह भी कहा, कि हो-न-हो महात्माजी कश्मीर ही जा रहे होंगे। जब तक महात्माजी यहाँ पहुँचे, तब तक रावलपिंडी जाने का कारण और काम मेरे साथ भी निकल आया। स्टेशन पर मैं उन्हें मिला और

सामान के साथ मिला, और उनके साथ ही रावलपिंडी के लिये सवार हो लिया।

उनके साथ मेरे मित्र अम्बुलकर थे, और एक ताज़ा ग्रेजुएट थे। या यह कहना ठीक होगा, कि उनकी ताज़गी निष्पन्न होने में ही आ रही थी। कालेज की डाल से टूटकर दुनिया के मोल-तोल के बाज़ार में जा पहुँचने में उन्हें कुछ कसर थी—रिज़ल्ट अभी नहीं आया था। अभी तक धरती से बहुत ऊँचे रहकर डाल में लगे-लगे ही उन्होंने सूरज की धूप और हवा की लोरियाँ खाई थीं; लेकिन जब शिक्षा के रस से भरकर पक उठेंगे, तब डाल उन्हें उस तरह अपने ऊपर धारण नहीं रख सकेगी, तब उन्हें गिरकर धरती पर ही आ रहना होगा। वह वहीं थे, जहाँ कि स्वप्न तोड़ना होता है, और सोचना होता है—'धरती पर अब आये, अब आये।' परीक्षा के बाद की छुट्टियाँ बिताने, वह भी महात्माजी के साथ हो लिये थे।

दूसरे मित्र अद्भुत थे। हद के फक्कड़। संकट के समय आगे, यों बेपता। बहुत अच्छा गाते थे। आवाज़ ऐसी थी, कि बड़ी प्यारी। धोखा कभी न देती थी। असहयोग के दिनों में फोर्थ-ईयर से पढ़ना छोड़ दिया था। अँगरेज़ी बेहिचक बोलते थे, और हरदम नंगे पैरों पर जाँघिया पहने रहते थे। ऊपर कमीज़ हुई-हुई, न हुई न हुई। असहयोग में पड़कर असहयोग के हो रहे। घर-बार जैसी भी कोई वस्तु होती है, इसका ध्यान ही न उठता। जो मिला उसी को पाकर खुश, न मिला, तो और भी खुश। गुस्से की बात पर कभी गुस्सा न होते थे, होते थे, तो बेबात यों-ही हो लेते थे। और फिर गुस्सा था कि राम-राम हिन्दी जो मराठी बनाकर बोलते थे, या मराठी को हिन्दी बनाकर कहना कठिन है; पर चीज़ वह अजीब होती थी। पर कह बैठिये कि हिन्दी पूरी मुहावरेदार नहीं हुई, तो समझिये, पूरी शाम

बुला ली। 'तुम्हीं बताओ नहीं तो हिन्दी क्या होती है?' उनकी हिन्दी की धाक माने बिना गुजारा नहीं। यों सदा कहते रहते, कि मुझे हिन्दी सिखा दो, हिन्दी सिखा दो। महात्माजी के पक्के साथी बनकर वह आये थे। जीवन-भर हिमालय के हिम और वन में ही रह जाने की बात आये, तो उसके लिये भी उद्यत। 'एम्बिशन' नामक वस्तु से उनका परिचय पुराना हो गया और उस शहरातिन से ऐसी पक्की छुट्टी ले बैठे थे, कि उसे उठने की हिम्मत न होती थी। भीतर कहीं थी भी, तो मुर्झाई, बेजान पड़ी थी। इनके भीतर रहकर वह भूखी मरती थी।

महात्माजी और इनके बीच ही कुछ तय पाया था, और इस यात्रा का सूत्र-पात हुआ था।

रेल में मुझे पता चला, कि जा कश्मीर ही रहे हैं; पर बात ज़रा टेढ़ी है। रावलपिंडी से रेल छूट जायगी, और किसी सवारी के आसरे की कल्पना को भी परे रखना होगा, और फिर पैदल कन्धे पर सामान रखकर चलना होगा।

मेरे साथ ट्रंक-वेडिंग था। मैंने बताना आरम्भ किया, कि किस तरह पीठ पर सामान लादकर चलना बहुत सुन्दर दृश्य उपस्थित न करेगा। इस तरह लौटकर पीठ को साबित ही पाने का भरोसा भी पूरा नहीं है, और यह, कि यह सब-कुछ नितान्त अकल्पनीय धारणा है।

पर अकल्पनीय हो, कुछ हो, साथ चलना हो, तो मैं वैसे साथ चलने को तैयार हो जाऊँ, नहीं तो अपना रास्ता देखूँ और मौज करूँ।

और इस प्रकार मुझे सम्पूर्ण स्वातंत्र्य देकर वे तीनों मुझ पर हँसने लगे।

मैंने मन में समझ लिया कि इनकी यह हँसी मुझ से नहीं

झेली जायगी, और मैंने कहा, "अच्छी बात है। रावलपिंडी तो पहुँचे। वहाँ जाकर फिर आगे की देखी जायगी।"

यहाँ पर मुझे महात्माजी के मनसूबे भी मालूम हो गये थे। इतना ही नहीं था, कि वह कश्मीर पैदल जाएँगे। जाते-जाते वह पैसा भी छोड़ देंगे। फिर बे-पैसे चलना होगा। भीख में रोटी मिल गई, तो; नहीं मिल गई, तो। दो-एक महीने कश्मीर में रहकर, राह ठीक मिल जानी चाहिये, फिर, पहाड़-ही-पहाड़ भारत के उस कोने सिकिम-दार्जीलिंग तक जाएँगे। और यों ही विचरेंगे। जन-समाज का सम्पर्क, जो जीवन-यापन की आवश्यक-सी शर्त बन गई है, देखेंगे, कि वह क्यों न अनावश्यक सिद्ध हो जाय; और लोगों से दूर, हिमालय की गोद में, हरियाली से घिर कर, मधुकरी पालकर, सर्वथा निस्संगी और एकाकी रहकर क्यों न जीवन की सम्पूर्णता उपलब्ध की जा सके?

इन मनसूबों से मैं डरने के सिवाय कुछ नहीं कर सकता था। मैं कैसे इस सब में महात्माजी का साथ दे सकूँगा।

वह ग्रेजुएट सज्जन इस समय मेरी युक्ति का साधन बने। जब ऊपर की बात हुई, तब उन्होंने कहा, "आप जहाँ चाहें, जाइये। श्रीनगर तक तो हम साथ हैं, वहाँ से लौट आएँगे। हम तो कश्मीर देखने चल रहे हैं।"

मैंने कुछ कहा नहीं; लेकिन मैंने सोच लिया, इसी तरह की राह मेरे लिये भी निकल सकती है।

महात्माजी की ओर से छुट्टी थी ही कि जहाँ से जो चाहे, लौट आये। और लौटने की बात की आशंका हमीं दोनों तक थी। अम्बुलकर की निगाह में लौटना कुछ चीज़ ही नहीं है। जो कुछ है, आगे चलना है, लौटना भी एक तरह का आगे चलना ही है। 'अब होता नहीं, चलो, लौटो।'—अम्बुलकर का लौटना ऐसा नहीं होता; इसलिए लौटकर भी वह आगे ही बढ़ता है।

आखिर, रावलपिंडी आ गया। और उन लोगों को अचरज हुआ, जब अपना परिग्रह जिस किसी को सौंपकर ज़रूरी कपड़ा अपनी कमर से कसकर मैं भी उन लोगों के साथ चल पड़ने को तैयार हो गया।

हम चल पड़े।

: ३ :

कुछ घटनाएँ ऐसी घट जाती हैं, कि उन्हें संयोग कह देने से जी को तृप्ति नहीं होती। संयोग के अतिरिक्त उन्हें और कुछ कहने का साहस भी कैसे हो? बुद्धि वहाँ आकर रुक जाती है, और उनसे टकराकर सुन्न होकर बैठ रहती है। आगे उसके लिए धरती नहीं, राह नहीं, गति नहीं। कुछ भी चीन्ह पाने का आगे सुभीता नहीं—बस ऊपर, नीचे, भीतर, चारों ओर से हमें घेर कर जो महाशून्य अटल रूप में अवस्थित है, खोखला, निर्भेद्य, फिर-फिरकर दीवार-बना हुआ-सा वही-वह हमारे सामने आ रहता है। और उसके नीले तल पर, हमारी आँखों की सीध में, आ ठहरती हैं, वे घटनाएँ, जो व्यंग और भेद की हँसी में चमक-चमककर मानो पूछती हैं, 'बताओ तो भला, हम क्या हैं, कौन हैं?' उस समय उस अज्ञात के तट पर खड़े होकर जी होता है, हम उसके अनन्त गर्भ की नीलिमा में आँखें फाड़-फाड़कर कुछ देखने की स्पर्द्धा में अन्धे क्या बनें, क्यों नहीं हम आँख मूँदकर घुटनों आ बैठें, दो बूँद आँसू ढर जाने दें और गद्‌गद् कण्ठ से गुहार दें, 'हे अज्ञात, तू ही है। हम सब और हमारा समस्त ज्ञात तेरे गर्भ में है, और तू उससे परे है, अज्ञात है। तू ज्ञात नहीं है, इससे तू ही है, तू ही सत्य है। मैं तुझमें, तेरी शरण में हूँ।'

* * *

आगे ऐसी ही दो घटनाओं का उल्लेख करेंगे, जो कश्मीर-प्रवास में हमारे साथ अतर्क्य रूप में घट गईं।

: ४ :

गुलमर्ग श्रीनगर से कोई पच्चीस मील है। बड़ी लुभावनी जगह है। सम्पन्न और जानकार पर्यटनार्थी कश्मीर आकर वहीं रहते हैं। जब श्रीनगर तपता है, तब आप बर्फ पा सकते हैं। ६००० फीट ऊँचाई है। यह कदाचित् भारत का सबसे ऊँचा स्वास्थ्य-स्थल है।

हम लोग वहाँ पहुँचे।

उन्नत शैल-शृंगों से घिरा हुआ पहाड़ी गोद में गुलमर्ग ऐसा बसा है, मानो हरे दोने में सफेद फूल बिखरे हों। भूरे-भूरे, छितरे हुए कुछ मकान हैं, बीच-बीच में हरे लान हैं। पहाड़ के शीर्ष पर मानो एक अंजलि बनी है, उस अंजलि की हथेली में मनुष्य नामक कुछ प्राणी बसेरा डालकर खेल रहे हैं; और यह महाकाय हिमाचल, अपनी अंजलि को इसी प्रकार अपरिसीम आकाश के सम्मुख अर्घ्य से भरी लिये रहकर, मानो उसकी स्वीकृति की प्रतीक्षा में अनन्त काल से यों अवसन्न पड़ा है।

हम चार अकिंचन वहाँ पहुँचे। साधु थे; पर साधु नहीं थे। साधुत्व के विज्ञान और व्यवसाय से अत्यन्त अपरिचित थे। कुछ दक्ष साधु भी हमारे देखने में आये, जो चन्दन की पादुका और केवल पश्मीना और रेशम के वसन ही धारण कर सकते थे। मुख-मण्डल उनका तेज और तेल से दीप्त रहता था और वह सदा भक्त-मण्डली से घिरे रहते थे; पर हम इस हुनर से कोरे थे। वस्त्र काषाय कर लेने की चिन्ता भी हमने नहीं की थी। न हमारा परिधान अत्यन्त उज्ज्वल था।

फिर भी, न जाने घोड़े वालों ने क्या समझ लिया, कि जब हम कहीं से कुछ पाकर एक देवालय के बरामदे में अपनी क्षुधा शान्त करने में लगे थे, कि उनके झुण्ड-के-झुण्ड हमारे सामने

आकर धरना देकर खड़े हो गये। अनेक स्वर एक साथ कहने लगे, "बाबा खेलनमर्ग चलेगा ? हम ले जायगा, हमारा घोड़ा..." और सब-के-सब अपने-अपने घोड़े की सविशिष्ट पात्रता का बखान करने लगे।

गुलमर्ग से तीन मील और ऊपर जाने पर हिमाच्छादित गिरि-शृंग आता था। उसी का नाम खेलनमर्ग था। जो गुलमर्ग आता, खेलनमर्ग देखता ही था। ऐसे किसी नये यात्री की बाट देखते यह लोग बैठे रहते थे, और उसको अपने घोड़े पर गुलमर्ग पहुँचा कर जो पाते थे, उस पर पेट पालते थे।

उन लोगों का अपने-अपने घोड़ों के बारे में उत्साह और विश्वास और प्रशंसा का प्रदर्शन उस समय हमें कुछ बहुत दिलचस्पी का विषय नहीं जान पड़ा। हल्की-सी उन्हें टाल देने की चेष्टा करके हम अपनी क्षुधा-तृप्ति में संलग्न रहे। हमारी उस चेष्टा से उन लोगों के धरने में कोई शिथिलता नहीं आई, वरन् कुछ कड़ाई ही आई; क्योंकि उन्हें हमारी चेष्टा में से इतना ही भावार्थ प्राप्त हुआ, कि हमें उनकी माँग के सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य है। वे विश्वसनीयता और पात्रता के प्रमाण-स्वरूप अपनी-अपनी छाती ठोकते हुए और तरह-तरह के लोभनीय वाक्य कहते हुए सामने ही डटे रहे।

तब क्या हमें यह भूल चला, कि हम कौड़ी-विहीन होकर वहाँ भिक्षान्न प्राप्त कर रहे हैं और जीन-चढ़े कसे हुए तैयार घोड़े-सवारी का जो सानुरोध और सानेक स्वर आमन्त्रण हमें दिया जा रहा है वह हमारे किसी प्रकार के भी सरोकार की वस्तु नहीं होनी चाहिये ? तब क्या हमें यह कठिन जान पड़ा, कि इन दीन घोड़े वालों के सामने जाकर हम यह घोषणा करें, कि हम तुमसे भी दीन हैं और ताँबे के एक पैसे का सुभीता भी हमारे पास इस समय

नहीं है; इसलिए तुम लोग जाओ। उस समय और क्या बात हुई—कहना कठिन है।

उस समुदाय को सामने पाकर हम नीची आँख करके भोजन-समाप्ति की संलग्नता को अटूट बना रहने देने में दत्तचित्त हो रहे।

मैं इससे पहिले कभी घोड़े पर नहीं बैठा था। मेरे मन में हो रहा था, कि अगर घोड़े पर बैठने की नौबत ही आ गई, तो अपनी तो बड़ी भद्द होगी। मन में यह खतरा था, कि सच, वह मौका सामने ही कहीं न आ जाय। कुछ यह भी था कि, घोड़े पर अभी तक बैठे नहीं हैं, जाने घोड़े की सवारी कैसी होती है। मैंने कहा, "महात्माजी, घोड़े कर लें, तो बड़ा अच्छा हो...कर भी लीजिये।"

अम्बुलकर बचपन में खूब घोड़े की सवारी कर चुका है, और उसे उन दिनों का आनन्द खूब याद है। उसने कहा, "हाँ महात्माजी, कर लीजिये।"

तीसरे मित्र के समर्थन करने की चेष्टा व्यर्थ गई; क्योंकि महात्माजी ने आँख ऊपर उठाकर घोड़ेवालों से पूछा, "एक घोड़े का क्या लोगे?"

"एक रुपया...." बहुत से स्वरों ने यह कहा और सबने यह जतलाना आरम्भ कर दिया, कि यही बँधा रेट है। इसमें पूछ-ताछ, कम-बढ़ हो ही नहीं सकती।

महात्माजी ने कह दिया, "तीन रुपये में चार घोड़े लाना हो, तो ले आओ।"

और वे तीन रुपये में चार घोड़े लाने की बात की असम्भवता और अनुपयुक्तता पर कुछ उद्‌गार प्रकट करने के बाद अन्त में लड़ते-झगड़ते विदा हुए। और कुछ ही मिनटों में चार आदमी चार कसे घोड़े लाकर सामने उपस्थित हो गये।

अब तो घोड़े आ ही गये ! उगली बात को निगला तो नहीं जा सकता । महात्माजी ने गम्भीर भाव से कहा, "यहाँ ले आओ, इधर । "और जब बरामदे के चबूतरे के साथ ही वे घोड़े आ लगे, तब हमसे कहा, "चलो, बैठो ।" हमारी शंकितचित्तता को उन्होंने देख दिया और कुछ मुस्कराकर कहा, "चलो; बैठो भी । हम चारों जने बारी-बारी से एक-एक घोड़े पर बैठ गये ।"

बैठ तो गये; पर मजा कहाँ । स्फूर्ति का पता नहीं । जैसे कैदी बनकर जा रहे हैं । मन में उत्साह की जगह आशंका थी । घोड़ों पर जैसे हम नहीं बैठे थे, हमारा बोझ लदा था । हमारे बोझ के नीचे वे घोड़े भी सिर झुकाये खुट्ट-खुट्ट चल रहे थे । 'जा तो रहे हैं; पर फिर होगा क्या'—यही विचार हमारी चेतना पर जाकर बैठ गया, जैसे कोई विषाक्त गैस हमारे भीतर फैलकर छा बैठी हो । हमारा आनन्द सुन्न हो गया ।

अब बोलो, हम पर क्या आफ़त थी ? सबका जिम्मा लेकर जब महात्माजी ने सब-कुछ किया और उसका बोझ भी वह उठायेंगे और उठाने को तैयार हैं, तब हमसे क्या इतना भी नहीं हो सकता कि व्यर्थ बहुत चिन्ता के नीचे हम न पिसें ? लेकिन जब देखते हैं, तो पाते हैं, महात्माजी के चेहरे पर कोई वैसा त्रास का भाव नहीं है, वह साधारणतः निश्चिन्त प्रफुल्ल से ही दीख पड़ते हैं । मुझे लगा जैसे महात्माजी यह अच्छा नहीं कर रहे हैं । आफ़त बुलाई, और अब उसकी तरफ़ पीठ करके उसे देखना नहीं चाह रहे हैं, और हँस रहे हैं । उस आफ़त की तरफ़ पूरी तरह देखने से हम कैसे इन्कार कर सकते हैं !

अपनी दृष्टि से यह बात हमने महात्माजी से बहुत स्पष्टता से कही । कहा, "महात्माजी, क्या होगा ?"

महात्माजी ने कुछ मुस्कराकर ही कहा, "भाई, जो हो गया, सो हो गया । और, जो होगा सो हो जायगा ।..."

और जब उन्होंने देखा कि इस गहन तात्त्विक तथ्य के प्रतिपादन से हमारे चित्त को समाधान-जैसी कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती, तब जोड़ा, "अच्छा, अब तो चले चलो। पीछे देखेंगे। देखने का काम अब तो पीछे ही हो सकता है। न हुआ, किसी से माँग-मूँगकर दे देंगे। तीन रुपये की ही तो बात है।"

हम चले तो चले; पर शंका हमारी कहीं जाती न थी। हमारे यह अच्छी तरह समझ लेने पर भी स्थिति में कुछ विशेष सुधार न हुआ कि शंका को भीतर मज़बूती से बैठा लेने से हाथ कुछ नहीं आता, केवल घोड़े की पीठ पर से लुढ़क पड़ने की सम्भावना में ही आधिक्य होता है।

ऊबड़-खाबड़, कहीं गड्ढा, कहीं तीन-तीन फ़ीट उभरे हुए पत्थर, यहाँ कीचड़, वहाँ रपटन, इधर चीड़ के दरख्त की उठकर टेढ़ी-मेढ़ी जाती हुई फैली जड़ें, उधर और कुछ—लड़खड़ाते और सँभलते हुए हमारे घोड़े इन सबको पार करके आगे बढ़ते रहे और उन पर लदे हुए हम-अदद भी आगे आते रहे। सामने हमारे हिमाच्छादित उत्तुंग शैल, इधर पाताल में पहुँचती हुई घाटी, उधर सीधा जाता हुआ पहाड़, सँकड़ी-से-सँकड़ी राह, और इस सब के बाद हमारे मनों पर छाई हुई विषम आशंका—इन सबकी उपस्थिति में हम गठरी-बने हुए पदार्थ खेलनमर्ग और प्रभु की कृपा के निकट पहुँच रहे थे।

चढ़ाई समाप्त कर हम मैदान में आये। छोटी-छोटी घास है। हरे धान के रंग की, जो यहाँ-से-वहाँ तक फैली है। उनके बीच में खूब अतिशयता से उग-उठकर खिल-झूम रहे हैं, रंग-रंग के फूल,—धानी साड़ी पर रंग-रंग की मानो ये बुन्दियाँ हैं। और इसके पार एक ही फर्लांग पर उठकर आकाश में चढ़ा जा रहा है वह बर्फ का स्तूप जो धूप के स्पर्श से उज्ज्वल होकर झकझका रहा है, और जिस पर दूर से आँख ठहरना मुश्किल है। बादल अभी

आते हैं, और दो फुहार हँसकर अभी भाग जाते हैं। अभी चुपके से कहीं से आकर सूरज की आँख मूँद लेते हैं, और अभी छन में छोड़ देते हैं, और सूरज फिर खिलखिला उठता है। बेहद बारीक धुनी हुई रुई के गाले से बादल उड़-उड़कर हमारे चारों ओर फैले हैं, हमको छू-छूकर भाग जाते हैं, और हमें आर्द्र-सा कर जाते हैं। वह उधर गाय चर रही है, चुगकर मुँह ऊपर उठाती है, चारों ओर देखती है और सन्तोष की साँस लेती है—वह साँस नथनों से निकलकर भाप बना हुआ कैसा विलीन होता हुआ दीख पड़ता है।

यहाँ आकर हठात् हम प्रकृति के इस विराट् और मौन समारोह में तन्मय हो गये। चित्त की शंका हम पर से न जाने कब खिसक गई और भाग गई। चित्त खिलकर जाने किससे भर गया, कि और कुछ रहा ही नहीं, सब अपना-ही-अपना हो गया। ये घोड़े-वाले हमारे सम्बन्ध में किसी प्रकार के लेनदार हैं—चित्त में इस चेतना के लिये जैसे स्थान न रहा। वे उसके निकट अपने ही बन उठे।

अम्बुलकर ने कहा, "देखो, वह बादल के पिल्लू! कैसे चिपटे जा रहे हैं!"

हम हँस पड़े। मैंने कहा, "पिल्लू नहीं, पिल्ले कहो। कैसे कुतिया के पिल्लों की तरह, गुलगुले, मानो कुँ-कुँ-कुँ-कुँ करते-हुए, एक दूसरे में खोये जा रहे हैं!"

अम्बुलकर ने कहा, "नहीं जी, पिल्ले नहीं हैं, हमारे पिल्लू हैं। पिल्लू हैं, पिल्ले कैसे हो सकते हैं।"

हमको मानना पड़ा कि बादल के बच्चों को पिल्लू ही कहते हैं। ये छोटे-छोटे, होते तो सच, बड़े मेमने से हैं। अभी अच्छी तरह दीख रहे हैं, कि छन में जाने कहाँ ग़ायब!

हम शीघ्रता करके अपने-अपने घोड़ों पर से कूदकर किलकारी

मारते हुए भाग चले। घोड़े झट उस हरित-कोमल घास से अपने भूखे मुख का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर संतृप्त हुए।

हमने जी-तोड़ दौड़ लगाई। देखना था कि बरफ़ तक पहले कौन पहुँचता है।

लेकिन अम्बुलकर, अम्बुलकर है। सबसे आगे पहुँचकर बरफ़ पर पैर रखता है कि गला फाड़कर किलकी मारता है, "महात्माजी!..."

पीछे-ही-पीछे हम थे। हमने कहा, "क्या हुआ?"

इतने में ही उसने दूसरी बार चिल्लाने का मौका निकाल लिया, "महात्माजी!"

महात्माजी पीछे मजे-मजे में चले आ रहे थे। बोले, "अरे, क्या है?..."

अम्बुलकर ने उछलकर और चिल्लाकर कहा, "महात्माजी! जल्दी आइये, भाग के!...."

तब तक हम दोनों भी पहुँच गये थे। हमने उससे भी अधिक उछलकर इस माँग का समर्थन किया। कहा, "महात्माजी, भागकर आइये।"

महात्माजी आये और हमने उन्हें दिखाया—

तीन नये कोरे रुपये अचक-के-अचक बरफ़ के किनारे पर अलग-अलग चित्त ऐसे रखे थे, जैसे हमारी बाट ही जोहते हों।

महात्माजी ने कहा, "अच्छा!"

और हम उस बरफ़ के पहाड़ के साथ तरह-तरह की शरारत मचाने लगे।

* *

दूसरी घटना यों हुई।

: ५ :

श्रावण में श्रीनगर से एक छड़ी की यात्रा उठती है। वह अमरनाथ जाती है। अमरनाथ एक तीर्थ-धाम है। उसका बड़ा माहात्म्य है।

एक खासा मेला-का-मेला चलता है। राज्य की ओर से और समितियों की ओर से प्रबन्ध रहता है।

मेले में आधी संख्या साधुओं की रहती है, और आधे में शेष सब रहते हैं।

इस समय तक हम तीन ही रह गये थे। ग्रेजुएट मित्र तार से रुपया मँगाकर बहुत पहले ही घर जा चुके थे। हम तीन एक महन्त की साधु-मण्डली में मिलकर छड़ी के साथ उठ लिये।

छड़ी क्या वस्तु है, और साधु क्या पदार्थ हैं, इसके वर्णन और विवेचन का यहाँ अवकाश नहीं।

कश्मीर केशर के लिए मशहूर है। संघ के निर्धारित यात्रा-मार्ग से तनिक हटकर केशर की क्यारियों के लिए पामपुर होते हुए भी यदि हम शीघ्रता करें तो छड़ी को अनन्तनाग में पकड़ सकते हैं, "यह हमने देखा। केशर की कृषि देखने की उत्कण्ठा थी ही। फिर पता चला, इधर ही एक गंधक का चश्मा भी है, और पास ही है एक ज्वालादेवी का मन्दिर। दोनों ही चीजें दर्शनीय हैं। गंधक के चश्मे में साफ़ स्वच्छ, निर्मल जल है; पर गंधक की बास से बसा हुआ। पास खड़ा होना कठिन है। और ज्वालादेवी एक मन्दिर है, जहाँ पहाड़ की चोटी पर एक गहरा छिद्र है। कभी-कभी वहाँ से ज्वाला की लपटें निकलती दीख पड़ी थीं। अब भी देवी ज्वाला के रूप में उसमें से प्रकट होकर दर्शन देती हैं, ऐसा प्रचलित विश्वास है। उसी छिद्र और उसी विश्वास पर मन्दिर का निर्माण हुआ है।

बड़े तड़के उठकर चश्मे में स्नान करते हुए हम नौ-दस बजे के लगभग ज्वालादेवी पहुँच गये। स्थान अत्यन्त सुरम्य है। पास ही घनी पर्वतमाला है, और मन्दिर के चरणों में है—खिऊ नामक बस्ती। वनस्पति के वैभव के दर्शन के लिए इस स्थान को आदर्श समझिये। पास ही से गहन वन आरम्भ हो जाता है, जहाँ जगह-जगह शिकारगाह बने हैं। वन में अच्छा शिकार मिलता है।

हम मन्दिर के बाहर आकर चारों ओर फैली प्रकृति की सुललित श्री की बहार लेते रहे। अम्बुलकर ने तान छेड़ी। ऐसे वातावरण में उसके स्वाभाविक मधुर कण्ठ में न जाने क्या, कुछ और वस्तु आ मिलती थी। तब उसका स्वर लहराता हुआ ओस की नाईं जी पर छाकर मानों आर्द्रता की हल्की-हल्की फुहार छोड़ने लगा। हम विभोर हो रहे।

किन्तु देर होते-होते हमें यह मालूम हो गया कि इसी तरह से दिन नहीं बीत जायगा। पेट में भी कुछ डालना ही चाहिये। और इसके लिए इस स्वर्ग से हमें उतर कर नीचे धरती पर बसे गाँव में पहुँचकर कुछ चेष्टा भी करनी ही होगी।

नीचे उतर कर गाँव की कीच-भरी गली को पार करते-करते, मानने लगे, कि कब किस भले-मानस की कृपा आप ही हमें ढूँढ़कर हम पर आ बरसे; पर यह होता न दीखा, और आज के लिए ठीक-ठिकाना बनाने के लिए हमने अम्बुलकर को नियुक्त किया।

आगे दो सम्भ्रान्त सज्जन आते दिखलाई पड़े। झिचक से अम्बुलकर को सरोकार नहीं। आगे बढ़कर उसने कहा, "महाराज, हम तीन मूर्ति हैं......"

आदमी इस साधुओं की परिभाषिक शब्दावली के चक्कर में पड़कर मूर्ति बन जाते हैं, और इसी प्रकार के और क्या हेर-फेर हो जाते हैं—यह हमने काम चलाने लायक रूप में जान लिया था।

वे सज्जन इस प्रकार के पुण्य की खोज में ही थे। उनके यहाँ आज वर्षगाँठ का उत्सव था, और अब इसीलिये बाहर निकले थे कि कुछ सत्पात्र अतिथियों को पायें और इस शुभ योग पर कृतार्थ हो सकें। उन्होंने धन्य भाग माना। हमने भी कम अहोभाग्य नहीं माना। साथ-साथ चल दिये।

वह प्रसन्न हुए, जब उन्होंने पाया कि ये बेढंगे साधु बीच-बीच में अँगरेज़ी के शब्द भी बोल जाते थे। वह सुशिक्षित परिवार था। घर पर हमारे पहुँचने के कुछ ही समय बाद कुटुम्ब के सब सदस्य हमारे आस-पास आगये। बच्चे, स्त्री-पुरुष, कन्याएँ—सब हमें अपने बीच में पाकर बेहद प्रसन्नता, प्रसन्नता कदाचित् उतनी न हो, जितना कुतूहल और विस्मय हो—ये कौन उठाईगीरे से हैं, जिन्हें यहाँ बैठा कर उनके बड़े, उनसे तरह-तरह की बातें कर रहे हैं। और वे भी उसी तरह की बातें कर सकते हैं! और कैसा उन से आदर का बर्ताव किया जा रहा है—इसलिये ज़रूर कोई बढ़िया बात ही है, और इसलिये उन्हें ज़रूर खुश ही होना चाहिये।

खाना खा-पीकर हमने देखा, कि हमें चलना चाहिये; किन्तु यह बात तो—उस घर वालों ने स्पष्ट जतला दिया—बिलकुल असम्भव ही है। और महिलाओं ने भी कहा कि ऐसा किसी प्रकार भी न हो सकेगा और हम लोग भी इस अपरिचित स्नेह और अनुग्रह से कोमल और कठिन आग्रह को तोड़ने की हठ अपने भीतर नहीं जगा सके। रात वहीं बितानी हुई।

रात वहाँ बिताने का मतलब अगले दिन पूरी पच्चीस मील की मंज़िल था। छड़ी को कहीं अनन्तनाग हम लोग पकड़ सकेंगे। और सामान से लदे हुए एक साँस पच्चीस मील चलना कुछ बहुत सुखद कार्य न था। रात यही सोचते-सोचते नींद ली और बहुत सबेरे उठ बैठे।

रास्ता हमारा अब सीधा न था। सड़क कहीं छूट गई थी। कोई दस मील चलने के बाद सड़क मिलेगी।

घर के कई लोग हमारे साथ-साथ कुछ दूर हमें विदा देने आये और बताया कि एक मील तक सामने फैले हुए धान के खेतों को यों-और-यों पार करके वह जो बाग-सा दीखता है, उसके आगे अमुक गाँव आ जायगा; और वहाँ से फिर फलाँ गाँव की बटिया सीधी है ही, फेर नहीं है; और फिर पहाड़ी आयगी, उसके दाईं ओर की राह पर हम हो लें; फिर सामने वह गाँव है ही; फिर यह...और फिर वह, और आगे बस सड़क ही है। फिर सड़क तो सीधी ही है। और इस प्रकार ब्यौरेवार सूचनाएँ देकर हमारे चित्त का पूर्ण समाधान करके बड़े विनीत और कृतज्ञ भाव से उन्होंने विदा दी और कहा, "अच्छा, नमस्कार।"

अंगुलि-संकेत, मौखिक वर्णन और हार्दिक सद्भावना की सहायता से हमारे मार्ग का नक़्शा जो उन्होंने विशद स्पष्ट-रूप से खींचकर हमें दे दिया था, वह, चलते-चलते हमने पाया, हमारे निकट वैसा सुगम नहीं रहा। उस दिन सड़क तक के दस मील के रास्ते को कम-से-कम बारह तो हमने बनाकर ही छोड़ा।

चल रहे हैं, और चल रहे हैं, और चल रहे हैं। सड़क भी है कि आज आकर नहीं देगी। हम पास जाते हैं, तो वह दूर जाती है। आठ बज गये, नौ बज गये, दस बज गये। सूरज सिर पर तपने लगा, देह थक गई, भूख लग आई, जी भी हार-सा चला और सड़क का अता-न-पता!

राम का नाम लो कि आखिर सड़क आई ही। वहाँ आते ही हम एक चिनार के पेड़ की छाँह में तनिक दम लेने ठहर गये। और तीन मिनट बीती नहीं कि फिर चल पड़े।

ऊपर से गर्द, भीतर से पसीना, आँख के सामने कहीं न अन्त

होने वाली राह, और माथे पर चिल-चिलाती धूप,—बस, हमारा बुरा हाल था।

चलते-चलते कोई बस्ती मिली। वहाँ एक सद्गृहस्थ के घर से मट्ठा पाया और पीया। दूसरी जगह से एक-एक गोले का टुकड़ा और गुड़ की एक-एक डली प्राप्त की। उसके ऊपर कुछ पानी पेट में पहुँचाया। और आगे बढ़े।

जो पेट में पहुँचा, वह कहाँ भस्म हो रहा, कुछ पता न चला। और पेट में से मानो लपटें निकल-निकलकर कुछ और भी सामग्री माँगने लगीं, जो पड़े और स्वाहा हो। अग्नि प्रज्वलित है, यज्ञ का समय जाने कब का निकल चुका है; पर हवन की सामग्री कहाँ है? मानो कुण्ड की वह्नि की जिह्वाएँ निराश क्षोभ में लपक-लपककर तांडव करके पूछ रही हैं—सामग्री कहाँ है, कहाँ है?...

—और हम चलते जा रहे हैं। क्या सोचते हैं हम? कहाँ तक चलना है? क्या इसका अन्त है? क्या इसका अन्त नहीं है? क्या यह क्षुधा अनन्त है, जैसे कि सामने सीधी जाती हुई राह अनन्त है?

मैंने कहा, "अवंतिपुर में महन्तजी का बजरा हमें अवश्य मिल जायगा। कहा था—शनीचर को हम वहीं होंगे। तब हमें भोजन भी तैयार मिलेगा।"

अम्बुलकर ने कहा, "हाँ, कहा तो था। हमारा इंतज़ाम भी ज़रूर करेंगे।"

इंतज़ाम से अम्बुलकर का तात्पर्य इंतज़ार से था।

महात्माजी हँसते हुए बोले, "क्यों नहीं। वह इंतज़ार कर रहे हैं, तभी तो हम चल रहे हैं। उस इंतज़ार की आशा को लेकर ही तो हम चल पा रहे हैं,—क्यों?"

किन्तु, हम क्या जानते थे और महात्माजी क्या जानते थे, कि महन्त नहीं, उससे कहीं बड़ी और अपूर्व वस्तु वहाँ अवंतिपुर

में हमारा इंतज़ार कर रही थी। हम पहुँचे कि वह वहाँ घटित होगी। आँख खोल देने वाले दिव्य प्रकाश की भाँति वह वहाँ हमको लेकर सम्पन्न हो उठेगी।

महात्माजी की बात सुनकर हम अपनी धधकती भूख को भीतर-ही-भीतर लिये रहकर वीर की भाँति आगे बढ़ते रहे।

अनन्तनाग से लगभग छः मील इधर अवंतिपुर है। सूरज पच्छिम की ओर ढला आ रहा था। तीन बजते होंगे। कमर से दो लोइयाँ और कुछ और सामान लपेटे, पसीने से तर-बतर और साँस से उफनते हुए हम अवंतिपुर में प्रविष्ट हुए। बस्ती का पहला मकान आया, हमने चैन की साँस ली। कोई मिला, पूछा, "मन्दिर कहाँ है ?"

"आगे"

आगे बढ़े। फिर पूछा, "मन्दिर कहाँ है ?"

"वह आगे—"

हम आगे बढ़ते रहे, और मन्दिर भी हमारे आगे-आगे बढ़ता रहा। पौन मील तो कम-से-कम और चले, सारी बस्ती पार की, और तब आया मन्दिर।

मन्दिर आया। शोभनीय स्थान है। प्राचीन पद्धति का शाही द्वार है। भीतर बगीचा भी है। मन्दिर के जीने के चरणों को पखारती हुई वितस्ता बहती है। गुल्म हैं, चिनार के सघन वृक्ष छाये हैं—कुछ हो, यहाँ हम विश्राम पायेंगे, और महन्त यहाँ मिले, तो फिर वाह !—और महन्त न मिले तो...?

हम पहले से बहुत कुछ हल्के मन से भीतर प्रविष्ट हुए। जो साधु पहले मिला उससे पूछा, "श्रीचन्द 'चिनार के महन्त' हैं या गये ?"—और अपने झोले-वोले उतार कर बैठने की तैयारी करने लगे।

उस साधु ने कहा, "वह तो कभी के चले गये यहाँ से। अनन्तनाग पहुँच भी चुके होंगे।"

हमने हठात् कहा, "गये ?"

"हाँ, गये, गये !"

किन्तु, उसी समय पास ही से सुन पड़ा, "महाराज, पधारिये।"

हमने देखा, कि अधेड़ वयस के एक ब्राह्मण पुरुष खड़े हैं और करबद्ध कृतज्ञ भाव से कह रहे हैं, "महाराज, पधारिये।"

हमने पूछा, "कहाँ ?"

"महाराज, भोजन पाने पधारिये।"

उस समय हम एक दम निश्चिन्त होकर आनन्द-मग्न हो गये। धीरे-धीरे सामान उतारा, सुहलाये, हँसे, टहले, बैठे, लेटे और नीचे आई उस चिनार की डाल की छाया में वितस्ता की धारा में स्नान कर डालने की ठहराने लगे। सोचा, पसीने से भीगे कपड़ों को चलो लगे-हाथ धो भी डालें।

हँस-खेल-कूद कर और तैर कर मजे-मजे में हम नहाये। मजे-मजे में कपड़े धोये—और वह सज्जन उसी प्रकार विनम्र हमें अवकाश मिलने की प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहे।

निबट कर हम उनके साथ हो लिये। वह चुप-चुप हमारे साथ चले। मानों धन्य और कृतज्ञ भाव से पानी-पानी हो कर बह न जायँ, इस तरह अपने-आप में बन्द होकर सूक्ष्म होते हुए वह चल रहे थे।

मकान साधारण था और घर में एक माँ थीं और पत्नी थीं। माँ बरसों से नेत्र-हीना हो गई थीं और पत्नी के कोई बाल-बच्चा न था। माँ को एक शिशु की आवश्यकता थी, जिसके कोमल गात को छू-छूकर और जिसके साथ मचल कर और हँस कर वह अपने जराच्छादित एकाकीपन की याद से कुछ क्षण छुट्टी पा लें। जिसको

पाकर यह अपनी आँख पा लें, अपने जीवन का आधार, अपने भीतर का प्राण पा लें। पत्नी को भी एक बालक की बेहद चाह थी, जो किशन-कन्हाई बनकर इस घर के छोटे-से आँगन में कुछ ऊधम मचाये, कुछ तोड़-फोड़ करे; नहीं तो यह आँगन साफ, शान्त, सुव्यवस्थित, सुन्न और सदा एक-जैसा ऐसा पड़ा रहता है, जाने बेजान हो, मुर्दा हो, भूत हो—चुप-चाप साँस रोक कर, जैसे कोई भयंकर प्राणी पड़ा हो, जो अब काटेगा, अब काटेगा।

हमको एक चटाई पर बैठा कर झट-पट करके तीन थालियाँ हमारे सामने रख दी गई।

सज्जन ने धीरे से कहा, "पंखा कर, पंखा कर।"

हमें लगा जैसे हमारे में आँख-आगे से सब-कुछ गया, गया!

पत्नी को भोजन की व्यवस्था की सम्भाल में से छुट्टी मिलने में कुछ क्षण लग ही जाने थे। इन्हीं क्षणों में माँ ने बिना देखे ही कहीं-न-कहीं से पंखा खींच लिया और झलने लगीं। हमने कहा, "नहीं-नहीं......।"

किन्तु कश्मीर में गर्मी नहीं होती, इसका यह अर्थ नहीं है, कि माँ पंखा करना छोड़ दें। यह तो गर्मी का पंखा नहीं था, हृदय का पंखा था। हवा की जगह उससे स्नेह लहराया जा रहा था।

माँ इस स्नेह की डोर में बँधी हमारे पास ही सरकती आई। महात्मा जी उस ओर के किनारे पर बैठे थे। माँ ने उनके सिर पर अपना आशीर्वाद का हाथ रक्खा। वह हाथ फिर सिर पर टहलता हुआ और टटोलता हुआ गर्दन पर आया, और फिर महात्मा जी की निर्वस्त्र कमर को सुहलाने लगा। महात्मा जी की नंगी पीठ पर अपना हाथ फेरते-फेरते उनकी आँखों से आँसू आ-आकर टपकने लगे। वह पंखा झलती रहीं, रोती रहीं, और इसी प्रकार अपना दाहना सूखा हाथ महात्मा जी के सिर के बड़े-बड़े बालों पर, दाढ़ी पर, मुँह पर, कमर पर फेरती रहीं।

उस समय हमारी आत्मा भीज उठी, और हमारी आँखें भी भीज आईं।

हमारा अन्तर स्नेह से खूब भिगो दिया गया, और हम भोजन के बाद कुछ इधर-उधर की और पवित्र बातचीत करके चले आये।

—और हमें पता चला कि पिछले वर्ष, इस परिवार के प्रत्येक आत्मा की विविध मनौतियों, संचित आकांक्षाओं, और विपुल व्यय के उत्तर में, किसी व्यक्ति ने दक्षिणा-दान-यज्ञादि के पर्याप्त आडम्बर के बाद इन्हें बताया था कि अमुक शुभ लग्न के अवसर पर वे दूर से चले आते हुए तीन साधुओं को आहारदान देंगे, तो उन्हें वरदान प्राप्त होगा और उनकी पुत्र-कामना की सिद्धि अवश्यम्भावी है।

साल-भर से उसी दिन की आस बाँधे वह सज्जन बैठे थे। वह दिन आया, प्रभात से वह मन्दिर पर आ रहे—अब तीन साधु आते हैं, अब आते हैं! सबेरे से निराहार, अपने भाग्य के अन्तिम परीक्षा-फल की प्रतीक्षा में। सूरज निकला, सूरज चढ़ा; साधु आये, साधु गये—वह खड़े हैं—अब तीन साधु आते हैं, अब आते हैं! घंटे-पर-घंटे गिनती की तरह बजते चले गये। मन्दिर भर गया, और मन्दिर खाली हो गया। बग़ीचा कलरव से गूँजा, और अब सन्नाटा है—वे तीन साधु आते हैं, अब आते हैं!—

—और तीन बजे हम तीन साधु पहुँचे......

चोरी

लक्खू को अब चारों-तरफ़ सूना-सूना दीखने लगा। दोनों जून रोटी के लाले थे ही, अब आसरे को ठौर भी न रहा। जिस मिट्टी और फूस के झोंपड़े में अपनी बहू, तीन बच्चे, बुढ़िया माँ और एक दूर की अनाथ विधवा भाभी को लेकर वह गुज़ारा करता था, वह आज नीलाम पर चढ़ा दिया गया है। तीन साल पहले बीज के लिए जो आलू उसने महाजन से उधार लिये थे, उनकी कीमत मय सूद-दर-सूद वसूल करने के लिए बेचारे महाजन को झोंपड़ी खाली करा लेना पड़ा है। महाजन को इसके लिए कौन टोक सकता है? उनके पास मजिस्ट्रेट साहब की डिग्री है। और डिग्री यों ही मुफ़्त थोड़े ही मिल जाती है। उसके लिए सबूत पहुँचाना पड़ता है और अपने माफ़िक फ़ैसला लेना होता है तथा खर्च करना पड़ता है। यह ठीक है कि फ़ैसला और सबूत ये दोनों ही पैसे खर्चने से मिल सकते हैं, पर पैसा खर्चना भी तो कोई कम बात नहीं है। जब पैसे से मनमाना स्वर्ग और पुण्य मिल सकता है, तो न्याय भी अगर मिले तो क्या हर्ज है? हम समझते हैं कि संसार में ऐसी कोई चीज़ नहीं रहने देनी चाहिए, जिसको उचित कीमत पर प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त न कर सके और कदाचित् सभ्यता

का नया युग हमें उसके नजदीक ला रहा है। इस युग की सभी सौगातें खरीदी जा सकती हैं। डिग्री, ऊँची कुर्सी, पदवी, प्रभुत्व, ईमान और आदमी—इन सभी चीजों को सभ्यता के युग ने सभी के लिए सहज और प्राप्य बना दिया है। 'सभी' से हमारा मतलब उन सभी से है, जो किसी भी तरीके से क्यों न हो, उनके उचित दाम चुकाने के लिए भरी जेबों के स्वामी हों।

हमको इतना मालूम है और लक्खू को भी इतना ही याद है कि तीन साल पहले उसने महाजन से आलू का बीज लिया था और उसकी कीमत आठ रुपया होती थी। वह दिये या नहीं दिये; सो उसे याद नहीं है। आठ रुपया उसने एक ही वक्त नकद दे दिये हों, इस पर तो सचमुच विश्वास नहीं होता। यह तो बेचारा लक्खू भी सोचने की हिम्मत नहीं कर सकता, पर उसे इस पर अचरज जरूर है कि तीन साल के रुपये उसने अब तक चुकाये क्यों नहीं! उसकी आदत तो ऐसी नहीं है। शायद उसने फसल पर कुछ आलू दिये तो थे! कुछ गल्ला भी महाजन के घर भिजवा दिया था! लेकिन कैसे? महाजन की बही में तो दर्ज नहीं है, और बही के सामने कोरी याद का भरोसा कैसे किया जा सकता है?

जो कुछ हो, महाजन का कहना है कि उन्हें पैसा वापिस नहीं मिला, और चूँकि महाजन के पल्ले अच्छी खासी रकम है, इसलिए उनका अविश्वास भी नहीं किया जा सकता। फिर उनके पास बही है, और वह निश्चय से, जोर से, धर्म के नाम पर, जो कहो उसकी कसम खाकर यह कहने को तैयार हैं।

उधर लक्खू गँवार है, दरिद्र है। उसे निश्चय नहीं है; सहमते-सहमते बात करता है और कसम से डरता है।

लेकिन ऐन डिग्री के मौके पर ही इतने पुराने कर्ज का जिक्र क्यों छिड़ा, इसकी बहस में पड़ने को लोग तैयार नहीं हैं। इसका

कारण हमारी समझ में यह है कि लक्खू को चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं मालूम होती थी, इससे निश्चिन्त था; और महाजन, सूद-दर-सूद का हिसाब फैला सकते थे और दूर की सोच सकते थे, इससे वह भी निश्चिन्त थे।

ख़ैर, नीलाम की तारीख़ से १५ दिन पहले की बात है कि महाजन ने लक्खू को निकलते देखकर अपनी दुकान पर बुला कर बैठाया और ५-७ मिनट साधारण बातचीत के बाद बही के एक पन्ने में दिखाया कि तीन साल हुए, उसने आठ रुपये के आलू उधार लिये थे। अमुक दिन था, अमुक तिथि थी। महाजन देखता था अब भुगताये, अब भुगताये, हिसाब पुराना चला आ रहा है, निपट जाना चाहिए। सूद फैलाकर पचास रुपया होते हैं। लक्खू चाहे तो हिसाब समझ सकता है। ब्याज-दर कुछ ज्यादे नहीं लगाई गई। जो मामूली है, उससे कम ही लगाई है।

लक्खू कुछ न समझ सका। वह चुपचाप महाजन को देखता रहा।

महाजन ने कहा, "देखो, जल्दी दे दोगे तो ठीक होगा।"

लक्खू उठकर चल दिया। उसने कहा, 'पचास रुपये' यह मानो उसने आसमान से कहा, या अपने से ही कहा! किससे कहा, यह वह खुद नहीं जानता। यह निश्चय है कि महाजन से नहीं कहा। उसे नहीं मालूम वह कहाँ है, महाजन कहाँ है। 'पचास रुपये!' पचास किसे कहते हैं—पचास, पचास क्या चीज़! रुपये! पचास रुपये क्या!—वह मानो कुछ भी न समझ सका। मुँह से वह कहता था 'पचास रुपये', पर जानता न था, वह क्या कह रहा है।

ज्यों-ज्यों समय बीता, पचास रुपये का अर्थ समझ में आने लगा। उसे मालूम हो गया, पचास रुपया उसे महाजन को देने हैं—देने होंगे।

महाजन भी उसे रोज़ रास्ते में टोककर—'देने होंगे' के साफ़-साफ़ निर्भ्रान्त अर्थ समझाने लगे। 'देने होंगे—सीधी तौर से, नहीं नालिश से।' 'नालिश!'—नालिश से वह डरता था। कितनी शक्तिशालिनी, वज्रकठोरा, यह पिशाचिनी है नालिश! उसने उसके लाल-पगड़ी के जो दूत देखे थे—उनसे ही उसकी भयंकरता का अन्दाजा लगाकर वह काँप गया। उसने कहा, "महाजन, मैं दे दूँगा, धीरे-धीरे सब दे दूँगा, पर नालिश नहीं।"

महाजन ने भी सीधे तौर से कह दिया, "तीन साल तो हो गये। अब कब तक बैठा राह देखूँगा?"

लक्खू ने गिड़गिड़ा कर कहा, "मेरी इज्जत महाजन, तुम्हारे हाथ है, नालिश नहीं।"

लेकिन इज्जत को हाथ में लेकर महाजन को सन्तोष न था, वह तो पचास रुपया चाहता था, इसलिए उसने ठहरने में अपनी स्पष्ट असमर्थता जतला दी।

यहाँ कहा जा सकता है कि पचास में महाजन की सम्पत्ति नहीं लुटती थी, उनकी महाजनी फिर भी बहाल रहती। हाँ, पचास में उस लक्खू की जान, लक्खू के आश्रित छह और जनों की जान बचाई जा सकती थी, उन सबकी अनन्त कृतज्ञता कमाई जा सकती थी और यह कुछ टोटे की कमाई न थी। तिस पर ये वे रुपये थे, जो झूठ की तरह शून्य में से उत्पन्न होकर बहुत थोड़े समय में पचास बन गये थे! लेकिन महाजन की ओर से हम यह कह देना चाहते हैं कि वह यदि ऐसी थोथी सलाहों में पड़ते, तो महाजन नहीं हो सकते थे। और वह मूर्ख नहीं हैं। वह अपने मौके को पहचानते हैं, और उसे खाली नहीं जाने दे सकते।

जैसे हमने इन्द्र का वैभव नहीं देखा, वैसे बेचारे लक्खू ने कभी इकट्ठे पचास रुपये नहीं देखे थे। कहाँ से कैसे वह वैभव को प्राप्त करे! एड़ी-चोटी का पसीना एक करके, नसीब से लड़कर,

आश्रितों को एक बार सूखा नाज देकर और आप सिर्फ पानी पर सन्तोष मानकर, दस दिन तक घास खोदकर, लकड़ी ढोकर, भीख माँगकर, लक्खू छह रुपये इकट्ठे कर पाया। महाजन के पास जाकर बोला, "लो महाजन, छह रुपया ये लो। ऐसे ही धीरे-धीरे भुगता दूँगा।"

महाजन ने कह दिया, "वाह पचास के एवज में छह रुपये!"

लक्खू मुँह लटकाकर जब चलने लगा, तो महाजन ने कुछ सोचकर उसे बुला लिया और उससे छह रुपये ले लिये। लेकिन पचास की जगह छह लेकर अनन्त काल तक तो ठहरा नहीं जा सकता, इसलिए कुछ ही दिन बाद महाजन ने अदालत में जाकर, खरे दाम चुकाकर पूरे पचास की डिग्री करा ली।

झोंपड़ा नीलाम पर चढ़ा। लक्खू बे-घर हुआ। उसके आश्रित निराश्रय हुए। वह घर, जिसमें लक्खू के पुराने दिन, बीते हुए याद के दिन, सुख के विलास के उल्लास के दिन, अब भी जिन्दा थे, जो लक्खू के समीप उसके बाप का, उसकी माँ के समीप उसके पति का, एक मात्र अवशेष संस्मृति-चिह्न था; जो उनके जीवन में घुल-मिल गया था, जिसके कोनों में, भीतर-बाहर चारों तरफ मानों अपनी शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर उनका जीवन-वृक्ष फला-फूला था, जिसके आँगन में लक्खू की माँ का लगाया एक इमली का दरख्त था और जिसके छप्पर पर लक्खू की लगाई कुम्हड़े की बेल थी, वह घर, वह झोंपड़ा, जब बिराने हाथों में चले जाने के लिए बलात् छोड़ना पड़ा, तो मानों आत्मा को, कुत्तों और गिद्धों के खाद्य के लिए अपना शरीर छोड़ना पड़ा।

जब ये सब घर से निकले, लक्खू के सिर पर दो मिट्टी की हड़ियाँ और एक हाथ में एक पोटली थी, बहू की छाती पर एक बच्चा और अंगुली पकड़े हुए दूसरा बच्चा था। बड़ा बालक माँ का हाथ थामे-थामे चल रहा था। पीछे लक्खू की माँ भी आ

रही थी, जिसके पास लकड़ी का एक छोटा-सा बक्स था। लकड़ी के बक्स में जवाहिरात हो सकते थे, इसलिए उसे तो बेरोक-टोक जाने देना ठीक न था; परन्तु इसके लिए महाजन को और अदालत-दूतों को धन्यवाद दे देना हमारा कर्तव्य है कि उन्होंने हँडियों को और पोटली को नहीं छीना। हम इसको स्वीकार करते हैं कि डिग्री पास रहते उन्हें उनके कपड़े तक उतरवा लेने का अधिकार था, और यदि आवश्यकता होती तो कानून की पृष्ठ-पोषक तमाम डंडा-शक्ति उस अधिकार की रक्षा के लिए प्रस्तुत हो सकती थी, परन्तु उस अधिकार का प्रयोग नहीं किया गया। इसके लिए हम महाजन की विशालहृदयता और चपरासियों के शक्ति-संयम का आभार माने बिना नहीं रह सकते।

जब ये घर से खदेड़े गये, अभागे बस्ती के बाहर बड़े मैदान में पहुँचे, तब उन्हें अनुभव हुआ कि कहाँ जाना होगा, क्या करना होगा, इस पर विचार करना आवश्यक है। लेकिन बहुत-कुछ विचार कर चुकने पर भी कुछ निश्चय न हो सका। गाँव, जहाँ इन्हें कुछ आश्रय की उम्मीद थी, छह कोस था और वहाँ पहुँचना सम्भव नहीं, इसलिए सामने के पीपल के पेड़ के तले बसेरा डाल दिया।

पेड़ के नीचे बैठा लक्खू सोच रहा था कि पेट में डालने के लिए कहाँ से, क्या, किस तरह जुटाया जाय कि उधर से धन्नू लोधा आता दिखाई दिया। आते ही उसने कहा, "कहो भाई, यहाँ कैसे पड़े हो?"

लक्खू ने अपनी कहानी कह दी।

धन्नू ने कहा, "तो भूखों मरोगे?"

लक्खू ने कहा, "क्या करूँ?"

"क्या करूँ? क्यों?—हम तो भूखों नहीं मरते।"

लक्खू ने कहा, "न, न, सो मुझसे न होगा।"

धन्नू बोला, "अभी न होगा, सो तो मैं भी जानता हूँ; पर मैं कहे देता हूँ, होगा तो यही होगा। साधु बने रहकर तुम छह आदमियों का पेट नहीं भर सकते। बात यह है, भूखों रहने की नौबत अभी तुम तक ही आई है। जब तुम्हारे बच्चे रोटी-रोटी चिल्लाएँगे, माँ दाने-दाने के लिए तरसेगी, बहू भरी और गूँगी आँखों से तुम्हें देखेगी, तब देखना है, तुम क्या करते हो। तुम उन्हें मार दे सको, तब तो अच्छा है, तब तो तुम सचमुच साधु बन सकते हो। नहीं तो, नहीं तो, भगवान् न करे, तुम्हें वही करना होगा।....क्या कहते हो, मेहनत ? मेहनत से पैदा करोगे ? वाह लक्खू, अब तक तुमने मेहनत नहीं की, तो क्या और कुछ किया है ? पर कहाँ है वह तुम्हारी मेहनत और उसका फल ? सूख कर तुम काँटा हो गये हो, पैसे-पैसे को तुम मुहताज हो, दाने-दाने के लिए फिक्र कर रहे हो, पीपल के नीचे बसेरा डाले पड़े हो। वह महाजन बड़ी मेहनत करता है न, कि फूलके बोरा बन रहा है। तुम जैसे उसमें तीन बनें। दिन-भर तकिये के सहारे ऐंठता है, और डिग्री लाकर तुम्हारा घर छीन लेता है। यह है तुम्हारी मेहनत !......और हाँ, क्या कहा ?—ईमानदारी ? ईमानदारी कहाँ रहती है, सो भी तुम कुछ जानते हो ? ईमानदारी या तो रहती है परमात्मा के पास या बेईमानों के पास। पैसा उसका मालिक है। कोई गरीब कभी ईमानदार सुना है ? और किसी पैसे-वाले को तुम बेईमान कहने की हिम्मत कर सकते हो ? हिम्मत करके देखो, वह गवाहों से अपनी ईमानदारी दुनिया की नाक पर ऐसी साबित करे कि तुम्हें जेल जाना पड़े। बोलो, कौन कह सकता है महाजन बेईमान है और तुम ईमानदार ? ईमान के दो कागज़ उसके पास हैं, एक बही और दूसरी डिग्री ! और ईमान का बाप उसके पास है—पैसा ! तुम्हारे पास क्या है ?—कुछ नहीं। इससे साफ साबित है, तुम बेईमान हो। फिर

ईमान क्या है—यह भी तो समझो। ब्राह्मण कहता है—ईमान पर क़ायम रहो, मुझे पैसा चढ़ाओ। राजा कहता है—ईमान पर क़ायम रहो, टैक्स दो और हमारा हुक्म मानो। बनिया कहता है—ईमान पर क़ायम रहो, सूद चुकाते रहो। और सब कहते हैं—ईमान पर क़ायम रहो, तुम ग़रीब हो, ग़रीब ही बने रहो; नीच हो, उसी में सन्तोष रक्खो, कभी सिर न उठाओ, यही तुम्हारा ईमान है। अब हम क्या कहते हैं? हमने भी उन्हीं की बातें अपने सिर में ठूँस ली हैं। हम भी कहते हैं—अच्छा मालिक, हम कुछ न कहेंगे ईमान पर क़ायम रहेंगे। हम समझते हैं, हम जानवर हैं, वे प्रभु हैं। यह तुम्हारी ईमानदारी है, जिसने हमें यह सिखाया है। नहीं। हम कहेंगे—ईमान पर हम क़ायम हैं, तुम्हारे पास धन बहुत है, उसमें हमारा हिस्सा है, हमें दो। नहीं तो हम ले लेंगे! कहेंगे—ईमान पर क़ायम रहो, चुपचाप धन हमें दे दो। नहीं तो हम छीन लेंगे। एक दफ़े हमने समझ लिया कि इसमें बेईमानी नहीं है, तो बेईमानी नहीं रहती।"

लक्खू ने कहा, "मेरी तो समझ में तुम्हारी बात आई नहीं। मुझे तो डर लगता है।"

धन्नू ने कहा, "डर! इस डर ही की तो सारी गड़बड़ है। अपनी ईमानदारी को मनवाने के लिए उन्होंने कैसे बड़े-बड़े डर के भूत खड़े कर दिये हैं—अदालत, हवालात, ज़ेल, फाँसी! लेकिन 'भई, जो नहीं डरता, उसके लिए ये भूत कुछ नहीं हैं। जब हम अपनी बात लेकर उठे हैं, तो इस डर को तो हटा देना होगा। उल्टे हमें अपने डर के साधन खड़े करने होंगे। अगर वह सीधी तरह हमारी बनाई ईमानदारी कबूल नहीं करेंगे, तो हम अपने साधनों को सामने करके कहेंगे—मानो, नहीं तो ये देखो, लूट, चोरी, डकैती, क्रान्ति ......।"

लक्खू ने बीच ही में रोक कर कहा, "धन्नू भाई, यह तुम क्या

कह रहे हो ? तुम तो यह चोरी पर जैसे सीना-जोरी का उपदेश देते हो। तुम तो गाँव में सबसे भले आदमी समझे जाते थे। मैं जानता था तुम ऐसे हो गये हो, पर समझता था तुम इस पर अफ़सोस करते होगे।"

धन्नू ने उत्तर दिया, "जिस पर अफसोस करूँ, ऐसा काम मैं अपनी शक्ति-भर कभी नहीं करता। तुम जानते हो, मैं अकेला हूँ, मेरे आगे-पीछे कोई नहीं। लाचार होकर तो मैं ऐसे काम में पड़ नहीं सकता था। मैं मरने से भी नहीं डरता। भूखों मरने की ही चाहे नौबत क्यों न आ जाती, अपने पेट के खयाल से तो मैं ऐसा कभी न करता। मैं इतना निकम्मा, इतना नीच कभी नहीं हो सकता। मैं तो इसमें जान-बूझकर, सोच-समझकर पड़ा हूँ। और मैं समझता हूँ, मैं कभी भला आदमी था, तो उससे आज ज्यादे ही हूँ—कम नहीं।"

लक्खू ने साफ़-साफ़ कह दिया कि उसकी बातें पागलपन की बातें हैं, और वह और आगे नहीं सुनना चाहता। धन्नू ने इस पर चलने की तैयारी की और पाँच रुपये निकालकर देने लगा। कहा, "इस वक्त और ज्यादे नहीं हैं, इसका मुझे दुःख है।"

लक्खू ने लेने से साफ़ इनकार कर दिया। धन्नू ने कहा, "बेवकूफ मत बनो। मेरा कहा मानो। रुपये ले लो, काम आएँगे।"

उसने न लिये। धन्नू ने कहा, "तुम्हारे लिए नहीं, बच्चों के लिए और माँ के लिए दे रहा हूँ।"

उसने लेना फिर भी स्वीकार न किया। धन्नू ने फिर भी कोशिश की, पर उसने हठ न छोड़ी। धन्नू चला गया।

उसके सात रोज के बाद की बात है। जङ्गल में एक सूने शिवाले में लक्खू रहता था। आज दिन-भर बच्चों को कुछ नहीं मिला। खुद वह तीन रोज से निराहार भटकता रहा है। औरों को भी डेढ़-डेढ़, दो-दो रोज़ का उपवास हो गया है। धन्नू आया।

उसने पाँच रुपये दिये—स्वीकार कर लिये गये। वह चला गया।

ऐसे कितने दिन गुज़ारे पता नहीं। महीने-भर बाद लक्खू चोरी के अपराध में पकड़ा गया। रात के समय बाग से उसने कुछ आम तोड़े थे। आम लेजाने की तैयारी में था कि मालिकों ने उसे घेर लिया और पकड़ लिया। वह एक बार घर जाने की इजाजत चाहता था। कहता था, मैं खुद आ जाऊँगा, नहीं तो एक आदमी साथ चले। लेकिन उन्होंने न माना। लक्खू इस पर जबर्दस्ती अपने को छुटा, उनकी पकड़ में से भाग निकला। घर पर माँ बहुत अशक्त थी। बुड्ढा शरीर भूख कब तक बर्दाश्त कर सकता था? दिन-भर घूम-फिरकर भी जब कुछ न मिला, तो बाग के पास जाते हुए आम देखकर लक्खू को खयाल हो आया कि इसी से माँ को कुछ सहारा मिले। रात उन्हीं आमों को वह लेने गया था। खाली-हाथ जब वह माँ के पास लौटा, तो नहीं जानता था, वह खुशी मनाये या अफ़सोस! आम तो ला नहीं सका, पर खुद तो माँ के पास आ गया।

सबेरा होते ही सिपाही के साथ माली शिवाले पर मौजूद हो गया।

रोने-धोने की, पाप-पुण्य की कौन सुनता है। लक्खू को सिपाही की हथकड़ी में बँधकर साथ चलना पड़ा।

मजिस्ट्रेट के सामने चोरी का अपराध था। यह अपराध खुद तो कुछ बहुत बड़ा न था, पर उसके इस प्रश्न का कोई सन्तोषप्रद उत्तर न दे सकने पर कि उसकी कमाई का जरिया क्या है, जरा-सी चोरी का अपराध गुरुतम हो गया। वह कहता था, "जी, मैं कुछ नहीं करता, भूखा रहता हूँ। कुछ दाने-बाने मिल गये, पैसे मिल गये, या मजदूरी से जो आ गया, उसी से खाने को ले लेता हूँ।" लेकिन यह भी कोई जवाब है! मजिस्ट्रेट साहब ने सीधा दो साल का हुक्म सुना दिया!

दो साल तक घर वालों का क्या हुआ, किसको खबर ? हाँ, अगर धनञ्जयसिंह—धन्नू—ने उनकी खबर न ली होगी, तो परमात्मा ने अवश्य ली होगी, इसमें संशय नहीं है।

लक्खू महाशय जब जेल से निकले, तो सीधे-सादे भोले-भाले दीन लक्खू नहीं निकले। वह पक्के, छँटे हुए, उस्ताद चोर निकले। लेकिन यह मानना होगा कि धनञ्जयसिंह की शिक्षा में और जेल की शिक्षा में महासागरों का अन्तर था। धनञ्जयसिंह का कृत्य, हो सकता है, विकृत तर्क और बुद्धिविपर्यय का परिणाम हो, किन्तु उसमें सिद्धान्तों का, दया का—समावेश अवश्य था। इधर लक्खू महाशय की चोरी कुटिल शुद्ध स्वार्थ का परिणाम थी—एक लत थी, व्यसन थी। लेकिन इतना अवश्य है कि लक्खू पहले जैसी कठिनता में नहीं है, और चैन से दिन बिताता है।

सज़ा

बाहर के बरामदे में बेंत की कुर्सी डाले सुहावनी रिम-झिम देख रहा था। पानी बन्द नहीं होता दीखता था। शायद यह झड़ी कई दिन चल जाय। कभी मेंह धीमा होता कि थोड़ी देर में फिर बौछारें तेज़ी पकड़ लेतीं। बरामदे के पौधे मैंने नौकर से हटवा-कर पीछे रखवा दिए थे। वर्षा की बूँदों की अगवानी पर पहले तो उन पौधों की पत्तियाँ हँसती मालूम हुईं, पर पीछे मारे बौछारों के बेचारी ठिठुरी-सी दीखने लगी थीं।

ऐसी झड़ी में देखता क्या हूँ कि चले आ रहे हैं मित्र अय्यर। अय्यर का भरोसा नहीं, बुलाते रहो तो शायद एक न सुनें, वैसे जाने कब आ धमकें। गाँव-गाँव घूमते हैं। बी० ए० में अव्वल दरजे में आने का प्रायश्चित्त जैसे जिन्दगी भर करते रहेंगे। प्राय-श्चित्त का ढंग यह है कि बात-चीत या चाल-ढाल से किसी को पता न चलने देंगे कि वह अँगरेज़ी जानते हैं, और बोलेंगे एक-दम वाहियात हिन्दी। हिन्दुस्तान के काले किनारे, समझिए बस कुमारी अन्तरीप के कहीं आस-पास, के रहने वाले हैं। यहाँ दिल्ली में चर्खे को धरम बना कर उसी के प्रचार में लगे रहते हैं। मैं भले आदमी से कह-कह कर हार गया कि अरे भाई अय्यर! क्यों

भाई-बहिन और माँ-बाप से बिछुड़ कर काँग्रेस के इस बंजर काम में पड़े हो ! अपनी सूरत भी कभी शीशे में देखते हो ? ऐसी अपने से क्या दुश्मनी ? ब्याह करो और अपने लायक़ बनो। सुनते हो ?

पर अय्यर है कि मीठी मुस्कराहट से ही सब कड़वी बातों का जवाब दे देता है।

पर अय्यर का बखान छोड़ें क्योंकि बखान का वहाँ अवसर कहाँ था। हज़रत थे तरबतर, सिर पर टोपी तक नहीं थी, छतरी की तो पूछिये क्या ? पैरों की चप्पल से उछटी कींचड़ की छींटों से धोती रंगीन हो रही थी

मैंने कहा, "अरे अय्यर ! आओ, आओ।···अजी आना, देखना यह कौन हैं।"

अय्यर ने हाथों के काग़ज़ में होशियारी से लिपटे हुए बण्डल को अलग रखा और सिर के बालों को सूँत कर पानी निचोड़ा। कहा, "तेज़ बारिश है।"

मैंने कहा, "और तुम क्या कम तेज़ हो कि ऐसी बारिश में निकल पड़े घर से !"

मालूम हुआ कि जनाब आ रहे हैं एक गाँव से, जो दस मील है। चले तब बारिश न थी। यह धोती आज सबेरे ही तैयार हुई। अपनी ही कती-बुनी है, बहिन को आज ही उपहार-रूप भेज देने की इच्छा थी, इसलिए शहर चले आए हैं। मेरी जगह रास्ते में पड़ती है, सो इधर ही मुड़ आए।

मैंने धोती देखी, अन्दर से श्रीमती जी ने भी आकर देखी और पसन्द की। लेकिन उनको अय्यर की यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं कि वह चाय नहीं पीते। उन्होंने कहा, "चाय अभी दो मिनट में तैयार होती है। इतने चाहो तो नहा डालो और कपड़े बदल लो।"

अय्यर ने कहा, "भाभी चाय तो रहने दो। पर कपड़े दो तो नहा लेना मैं ज़रूर चाहता हूँ।"

भाभी ने कहा, "चाय नहीं लोगे तो कपड़े ही मैं क्यों देने लगी ?"

कहकर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये वह अन्दर चली गईं और थोड़ी देर में आकर बोलीं, "चलो सब तैयार है। गुसलखाना भूले तो नहीं कि मैं चलूँ ?"

अय्यर जाँघिए और बनियान में हमारी श्रीमती जी के पीछे-पीछे चल दिए।

लौटे तब तक मेज़ पर चाय का सामान लाया जा रहा था। अय्यर ने कपड़े पहने और मैंने देखा कि मेरे कपड़ों में अय्यर पहले से कुछ दुरुस्त ही मालूम होता है। चाय पर बैठकर वह बहुत-कुछ हीला-हवाला करता तो रहा, पर हमारी श्रीमती ने उसका क़ुफ़्र तोड़कर ही दम लिया। यानी अय्यर के गरम दूध के प्याले में दो बूँद चाय तो डाल ही दी। अय्यर ने हँसकर उस प्याले को मुँह लगाया और गट-गट पी गया। कहा, "आप नाराज़ न हों तो ऐसा ज़हर-छुआ प्याला एक-आध मैं और ले सकता हूँ, अगर आप दें।"

मैं सुनकर क़ायल हुआ। मैं उस आदमी को गवारा नहीं कर सकता जिसे मज़ाक गवारा नहीं है। अय्यर की अविवाहित अवस्था को मैं इसीलिए क्षमा करता हूँ कि उसने मेरी श्रीमती को शुरू से 'भाभी' कहा, एक भी दिन 'बहिन जी' नहीं कहा।

मैंने कहा, "सुनो, ज़हर ज़रा कम रखने की ताकीद इन महात्मा से मिले, इससे पहले ही तुम अपनी ओर से उसे डालने में संकोच क्यों दिखाओ ?"

सचमुच इस बार श्रीमती जी ने आधा प्याला चाय का भर

दिया तब उसमें दूध छोड़ा। अय्यर कहते रह गए बस-बस, लेकिन श्रीमती जी ने हँसकर कहा—

"खुद दे रही हूँ फिर भी डरोगे? लो, डरो नहीं।"

अय्यर ने हँसकर कहा, "मैं बेगुनाह हूँ। मुझ पर कृपा क्यों?" कहकर उसने प्याला उठा लिया।

उसकी भाभी ने उसी तरह हँसकर कहा, "सोचो नहीं, ज़हर ही अमृत होता है। आँख मींचकर राम के नाम के साथ पी जाओ।"

"तो लो" कहकर प्याला वह ओठों के पास ले गया।

लेकिन देखते क्या हैं कि प्याला उसने एकदम मेज़ पर रख दिया है और खड़े होकर वह सीने पर हाथ दबाकर कुर्ते की जेबों को टटोलने लगा है।

मैंने कहा, "क्यों, क्या हुआ?"

उसने जवाब नहीं दिया और कभी इस जेब को तो कभी उस जेब को टटोलता रहा।

मैंने फिर पूछा, "क्यों, क्या बात है?"

संक्षिप्त-सा "कुछ नहीं" कहकर वह अपनी कुर्सी को हटा पुलिन्दे की धोती की तहों में अच्छी तरह दाब-दाबकर कुछ देखने लगा।

पता चला कि उसका पर्स ग़ायब है। जाने क्या हुआ? होना तो जेब में चाहिए था, कि सहसा उसे कुछ ख्याल आया और कुर्सियों के बीच से रास्ता बनाता हुआ वह अन्दर चला गया। थोड़ी देर में लौटा और कहा, "आपके नौकर का क्या नाम है? उसने तो गुसलखाने में पर्स नहीं देखा? मुझे ठीक याद है कि नहाते समय मैंने पर्स अलग निकालकर रखा था। लेकिन अब वहाँ नहीं है।"

मालूम हुआ कि पर्स में चार दस-दस के नोट हैं, दो सिक्के के रुपये, कुछ रेजगारी, दो ज़रूरी खत, और एक पता।

मैंने अपने यहाँ के सुरजना को बुलाकर पर्स के बारे में पूछा। वह सुनकर अचरज में रह गया और कुछ न बता सका। मैंने ताकीद देकर कहा कि जाओ, तलाश करो। नहीं तो तुम ही जानोगे। घर में दूसरा कौन है कि उसको कहा जाय!

सुरजना ने अपने को निर्दोष बतलाया। लेकिन मेरी डपट के आगे वह ज्यादा मुँह नहीं खोल सका और चला गया।

श्रीमती जी ने पूछताछ करनी शुरू की कि सिक्के किस बादशाह के थे और किस सन् के थे? और दस के नोटों में कोई बड़ा था या सब छोटे थे? और किस जेब में क्या? और—

मैंने कहा, "पूछ-पूछकर अपना जी ही भरोगी कि कुछ करतब भी करोगी? देखो पड़ोस के जो किराएदार हैं वहाँ से कुछ पता लगाओ। सुना?"

पहले तो श्रीमती जी कुछ गर्म-सा जवाब देने पर उतारू दीखीं। मानो उन्होंने कहना चाहा कि मैं ही सब कर-धर के रखूँ तो कुछ हो, यह नहीं कि और भी कोई कुछ पैर-हाथ हिलाए। क्यों न, आदमी बड़े जो ठहरे! लेकिन यह सब कहें इससे पहले ही आकस्मिक-भाव से चमककर बोलीं कि गये रुपये कहीं भला मिलते हैं? लेकिन एक बात पक्की हो जानी चाहिए, मैं ढूँढ़कर दूँ तो मुझे क्या इनाम मिलेगा?

अय्यर अब तक स्थिर-चित्त हो गए थे। जो गया सो गया, उस पर समय को और अपनी शान्ति को भी क्यों जाने दिया जाय। लेकिन श्रीमती जी की इनाम की बात सुनकर बोले, "भाभी क्यों दिक करती हो? लाओ पर्स दे दो न।"

श्रीमती बोलीं, "तो मैं चोर हूँ, कि मैंने पर्स उठाकर रख लिया है?"

अय्यर बोले, "आखिर तुम दोगी तो हो ही।"

लेकिन श्रीमती जी ने इस सुने को अनसुना कर दिया। वह ठोड़ी को हथेलियों पर लेकर सोच में आगे मेज़ पर झुककर बैठ गईं और कुछ देर कुछ नहीं बोलीं। इस अप्रत्याशित मौन पर और भी सब-कुछ रुक गया। थोड़ी देर में सहसा बोलीं, "सुरजन को, क्यों जी, हमारे यहाँ दसवाँ साल तो है? तुम क्या समझते हो उसने लिया होगा?"

मैंने कहा, "मैं नहीं समझता।"

बोलीं, "एक बार तुमने जो जेब से पैसे कम होने की शिकायत की थी। वह फिर मिले भी नहीं। लेकिन सुरजना ने लिये, इसका सबूत भी नहीं मिला।"

मुझे चुप देखकर बोलीं, "सुनते हो, फिर क्या कहते हो?"

मैंने कहा, "क्या कहूँ?"

बोलीं, "कहो क्यों नहीं? शक हो तो कहो। मैं अभी उसकी चमड़ी बेंतों से उधेड़ सकती हूँ।"

मैं बोला, "नाहक!"

बोलीं, "तुम कहो नाहक, पर मेरा उस पर सब हक है। मैं उससे कह दूँ तो वह अभी जमना में डूबकर मर सकता है। इतना वह मुझे मानता है। तो मैं उसको क्या पीटते-पीटते बेहाल नहीं कर सकती? वह चोर बने तो क्या मैं चुपचाप इसको देखती रह सकती हूँ। कहो, तुम्हें शक है?"

मैंने कहा, "शक नहीं है, सबूत का सवाल है।"

श्रीमती जी ने मेरी ओर देखकर ज़ोर से कहा, "सबूत नहीं, शक का सवाल है। शक काफ़ी है। उस पर ही मैंने सुरजना को अधमरा नहीं कर दिया तो मैं कैसी उसकी मालकिन हूँ। बोलो, कहो।"

मैंने फिर कहा, "क्या कहूँ ?"

बोलीं, "तो मैं कहती हूँ उसका यह काम नहीं है।"

कहकर वह चुप हो रहीं। उँगली माथे पर रख चाय की मेज़ के पार फ़र्श पर आँख गड़ाए जाने वह क्या देखने लगी थीं कि एकाएक व्यस्त भाव से बोलीं, "नहीं, यह काम उसका नहीं हो सकता। हर्गिज़ नहीं हो सकता। सुनते हो, एक लफ़्ज़ भी उससे इस बारे में न कहना। मेरे घर में रहकर उससे कोई कुछ नहीं कह पायगा।"

इसके बाद थोड़ी देर जैसे सोच में पड़े रहकर वह फिर पूछ-ताछ करने लगीं कि रुपये किस-किस राजा की मूरत के थे और किस सन् के ? नोट छोटे थे या बड़े और क्या उनके नम्बर थे ? पर्स ठीक कैसा था ? उसकी किस जेब में क्या था ?...ओह ! 'ज़िप' वाला पर्स था। और दस-दस के तीन नोट उसी में थे ? तो ठीक है।...यह ठीक है।...इस तरह की अपने में उलझी-सी बातें करती हुई वह अय्यर से जिरह करती रहीं।

मैं स्त्री-बुद्धि का बहुत कायल नहीं हूँ। शायद कारण यह हो कि मैं विवाहित हूँ। विवाह से पहले—लेकिन उस बात को जाने दो। लेकिन विवाह के बाद से स्त्री के मिजाज़ का मैं इतना अधिक क़ायल हो गया हूँ कि बुद्धि के क़ायल होने का मुझ में कहीं स्थान ही नहीं रह गया है। मैं नहीं जानता कि मिजाज़ की तीक्ष्णता और बुद्धि की तीक्ष्णता दो एक-दम दो चीज़ें हैं कि नहीं। कहीं-न-कहीं वे आपस में हिली-मिली तो होंगी। नहीं तो समवेदना की सूक्ष्मता से अलग होकर बुद्धि की कुशाग्रता कैसे चल सकती होगी ? इसलिए बावजूद इस बात के कि तर्क चलने पर मेरे सामने अपनी श्रेष्ठता का किसी यूनिवर्सिटी का कोई प्रमाण-पत्र वह मेरे आगे पेश नहीं कर सकतीं और बावजूद इस के कि घड़ी-बेघड़ी उन्हें मैं याद दिलाता रहता हूँ कि मैं अकाउन्टेन्ट-जनरल-आफिस का

एक बड़ा...आप समझ ही गए होंगे...इससे जाने दीजिए। यानी बावजूद सब बातों के मालूम होता है कि श्रीमती जी अपनी राज़ी-नाराज़ी के द्वारा जो दूर के मर्म को सहज-भाव से पकड़ लेती हैं वह मेरे लाख हिसाबी और तात्त्विक तर्क के हाथ नहीं आ पाता। तब ही मानना होता है कि स्त्री को स्त्रीत्व देकर यद्यपि ईश्वर ने उसे सर्वतोभावेन बुद्धि-शून्य बना दिया होता तो भी जगत् की विशेष क्षति न होती क्योंकि स्त्री स्त्रीत्व के ज़ोर से सब अभावों को भर-कर पुरुष के आगे तब भी अपराजित ही रहती।

खैर जी, वह छोड़ो। मतलब यह कि श्रीमती जी की जिरह पर मन में कुछ सदय होता हुआ मैं वहाँ बैठा रहा। जिरह समाप्त होने पर वह फिर कुछ देर गुम-सुम बैठी रहीं। अनन्तर बोलीं, "मेरा साथ वालों की मिसरानी पर शक है।"

मैं विस्मय से बोला, "मिसरानी?"

मैंने कई बार उस मिसरानी को बराबर वाले किराएदारों के यहाँ आते-जाते देखा था। कभी पूरा नहीं देख पाया। धोती माथे के काफी आगे आई रहती थी। वाचालता उसकी किसी के सामने नहीं आई। चुप आती थी, चुप जाती थी, और किसी के मुख उस की शिकायत मेरे कानों तक नहीं आई थी। इसीलिए मैंने अचरज से कहा, "मिसरानी?"

श्रीमती जी बोलीं, "ख़याल आता है कि गुसलखाने की तरफ़ से उसके गुज़रने की मुझे कुछ झलक मिली थी। नहीं तो तुम बताओ, कौन हो सकता है?"

निदान हम उस मिसरानी को लेकर बात करने लगे। वह दूसरों के यहाँ से वेतन पाती और वहीं काम करती है। उससे कैसे कुछ पूछा-ताछा जा सकता है? अजी छोड़ो, जो गया सो गया। किसी पर शक डालकर भला उस को बेइज़्ज़त कैसे किया जाय?

अय्यर की और हमारी यही राय रही कि क़िस्से को अब छोड़ा जाय। श्रीमती जी की तत्पर मुद्रा से मालूम होता था कि वह बात को यहीं छोड़ने पर कभी तैयार न होंगी। पर्स न मिला तो शक सुरजना पर भी ठहर सकता है। बस, यह उन्हें असह्य होगा। या तो बटुए को कहीं से मिलना होगा, नहीं तो सुरजना को पिटना होगा। सुरजना को मारते-मारते वह बेदम कर सकती हैं, पर एक क्षण को भी उसका चोर समझा जाना वह नहीं सह सकतीं।

बात-बात में मैंने ज़ोर से कहा कि कौन तुम्हारे सुरजना को कुछ कहता है? नहीं करेगा कोई उस पर शक। पर अब उस बात को छोड़ो भी।

अय्यर का और भी आग्रह था कि इस क़िस्से पर अब एक भी मिनट और नहीं खर्च करना चाहिए। रुपया गया तो कोई जान तो अपनी नहीं गई। पर श्रीमती जी ने कहा कि तुम सुर-जना पर शक न करने वाले कौन होते हो? पर्स नहीं मिलता तो वह गया कहाँ? जरूर सुरजना ने ग़ायब किया होगा? और अगर सुरजना चोर है तो कहाँ से उसने चोरी सीखी? आठ बरस का मेरे यहाँ आया। अगर चोर है तो उसने चोरी हमारे घर के सिवा कहीं बाहर से नहीं सीखी। सुनते हो, अगर वह चोर है तो हमने उसे चोर बनाया है। हमने उसमें लालच की जगह रहने दी होगी, अविश्वास की जगह रहने दी होगी, तभी तो पर्स देखकर उसका मन डिगा। और मन डिगा भी तो वह बात हमसे कहने नहीं आया!—इसलिए कहीं-न-कहीं से बटुए को पाकर लाना होगा। नहीं तो मैं इस कम्बख़्त सुरजना को जीता नहीं छोड़ूँगी।

हमें, कम-से-कम मुझे, उनकी भावना और उनका तर्क समझ नहीं आया और हमारे बीच से वह उठकर चली गईं तो मुझे बुरा

नहीं लगा और मैं अय्यर से देश-विदेश और सिद्धान्त-नीति की बातें करने में लग गया और पर्स की बला को मन से दूर भगा दिया।

अय्यर से मैं हमेशा कहता रहा हूँ कि देखो भाई, सेवा अच्छी चीज है। लेकिन ज़िन्दगी में पैर जमना भी जरूरी चीज है। क्या यह तुम गाँव-गाँव भटके फिरते हो! बताओ काँग्रेस में तुम किस ओहदे पर हो? प्रोविन्शीयल के मेम्बर बन सके तो बहुत हुआ। देखते नहीं कि लीडर कौन हैं! वह हैं जिनके पास सब-कुछ है। मोटी और पक्की आमदनी और बँगला और मोटर और आश्रितों का दल। तब सेवा भी उनको पूछती है। तुम्हारी जैसी सेवा नहीं कि जिसमें खुद को भी घुला दिया जाय। आदर्श! आदर्श की बात न करो। व्यवहार देखो और व्यवहार कहता है कि सचाई से चतुराई की अधिक कीमत है। देखो मुझे ही दो-तीन साल के अन्दर देखना कि मैं काँग्रेस की तरफ से म्युनिसिपैलिटी में हूँगा और काँग्रेस-सङ्गठन में भी तुम से आगे हूँ। अय्यर, यह छोड़ो, वह रास्ता पकड़ो जहाँ तुम्हारी असली काबलियत चमके। कहता हूँ कि यहाँ तुम एक अपना ग्रुप बनाओ। मेरी सेवाएँ अपनी समझो। स्थानीय पौलिटिक्स...

बात इस तरह स्थानीय से देश और फिर विदेश की ओर फैल चली। वह राजनीति के और सिद्धान्त-वाद के ऊँचे-ऊँचे कँगूरों को छूती उन पर उछलती फिरने लगी। उसमें गर्मी भी आई। मैंने गाँधीवाद को तरह-तरह के तर्कों से घायल कर छोड़ा। मुझे विश्वास है कि अय्यर की कट्टरता ही उसे सुरक्षित रख सकी, नहीं तो गाँधी-नीति धराशायी हो गई थी। अय्यर ने कम प्रखर तर्क नहीं दिये, लेकिन मेरे जवाब के आगे वे सभी कटकर रह गए। मैंने कहा, "देखो, अय्यर, गाँधीवाद के आधार पर तुम चले

कि मेरा-तुम्हारा साथ नहीं। हम भारत को दीन नहीं, सम्पन्न देखना चाहते हैं। तुम मुझे भावना में पड़कर दीनों का समकक्ष होने के लिए स्वयं दीन बनने को कहते हो। लेकिन यह भ्रम है। खुद सम्पन्न बनकर अपने उदाहरण से दीनों को सम्पन्न बनने का मार्ग दिखाना होगा। इन्डस्ट्रीयलाईजेशन—नहीं, इसके बिना उपाय नहीं।"

अय्यर ने भी कुछ कहा। पर मुझे अपनी बातें इसलिए याद हैं कि अब ठण्डक में देश और सिद्धान्त सम्बन्धी तब की अपनी गर्मी मुझे ही व्यंग मालूम होती है। सारांश, हम इसी तरह की जरूरी बातें कर रहे थे कि पास ही कहीं से धीमे-धीमे उठता हुआ शोर जोर पकड़ने लगा। कोलाहल इस तरह थप्पड़ की भाँति कानों पर पड़ने लगा कि मैं अपनी जगह से उठा, कहा, "देखूँ क्या मामला है?"

अन्दर पहुँच कर पहले सहन के पार दूसरा जो सहन है वहाँ देखता हूँ कि आठ-दस आदमियों की खासी भीड़-सी खड़ी हुई है। देखा तो आस-पास के नौकर-चाकर, पड़ोस का एक ताँगेवाला, एक दर्जी और एक पन्सारी, इसी तरह के कुछ लोग वहाँ जमा हैं। बीच में मिसरानी खड़ी पुकार-पुकार कर कह रही है कि उससे कसम ले लो, उसके सब मर जायँ, उसके बदन में कीड़े पड़ें जो उसने कुछ लिया हो तो। वह रो रही थी और दुहाई दे रही थी। पास ही श्रीमतीजी खड़ी बड़े धीरज से कह रही थीं कि चीखने-चिल्लाने से फायदा नहीं, धीरे-धीरे बातों का जवाब दो।

मैंने कहा, "यह क्या तमाशा है? क्यों किसी को सताया जा रहा है!"

श्रीमती जी ने डाँटकर कहा, "तुमको किसने बुलाया? क्यों री! बता तू उधर गई थी या नहीं?"

जवाब में मिसरानी ने जोर-जोर से पुकारकर दुहाइयाँ दीं--कि भगवान् उसे अभी उठा ले जो उसने किसी का कोई बटुआ देखा भी हो।

मिसरानी का पक्ष लेने वाला एक पड़ोस का नौकर बोला, "बाबूजी, बहूजी नाहक हैरान कर रही हैं। उस बिचारी के बाबू इस वक्त हैं नहीं, इसी से तो! ओ री ओ! दिखा क्यों नहीं देती है? लो बहूजी! उसकी तलाशी ले लो, नंगा-झाड़ा ले लो। इसके आगे उसकी जान तो नहीं ले सकतीं?"

यह कहकर उस आदमी ने मिसरानी का हाथ पकड़ लिया, कहा, "दिखा री! तैंने कहाँ क्या छिपा रक्खा है?"

कहने के साथ उसने मिसरानी की धोती का छोर छुआ, देखते-देखते मिसरानी ने अपने ऊपर आया हुआ धोती का पल्ला अलग फेंक दिया और सिर्फ चोली पहिने हुए खुले सिर चुनौती के साथ कहने लगी, "देख लो, जो कहीं मेरे पास कुछ हो।"

उस आदमी ने कहा, "सब दिखा दे, जो इन बहूजी को बिस-वास हो जाय।"

कहकर वह आदमी और मिसरानी भी उद्यत हुए कि चोली और बाक़ी धोती भी खींच कर अलग कर दी जाय। श्रीमती जी ने डाँट कर और हाथ से उस आदमी को पकड़ कर दूर कर दिया। कहा, "बदमाश! हया नहीं है? (औरों से) तुम लोग क्या देख रहे हो? यहाँ कुछ तमाशा है? जाओ! और सुनो ए रतना और बिहारी इसको यहीं पकड़े रहना मैं आती हूँ। आऊँ तब तक छोड़ना नहीं।"

कहकर श्रीमती ने सबको वहाँ से दुत्कार कर दूर कर दिया। मिसरानी धम से बैठ कर माथा पीटने और दुहाइयाँ देने लगी। और श्रीमती जी उसे उसी हालत में छोड़ कर चली गईं।

मेरी इच्छा हुई कि मैं बीच में पड़ कर मिसरानी को छुटकारा

दिलाऊँ। यह दृश्य मुझे अच्छा नहीं मालूम हो रहा था। अत्यन्त शीलयुक्ता दीखने वाली नारी लज्जा को इस प्रकार से चुनौती दे उठे यह मुझे बहुत बीभत्स मालूम हुआ। पर श्रीमती जी की योजना का मुझे कुछ पता न था इससे मैं दख़ल न दे सका। तो भी मैंने उसे दिलासा दी, उसके हाथ छुड़वा दिए और कहा कि धीरज रखो।

मेरे पास आने और बोलने पर मिसरानी ने धोती को उसी तरह अपने सिर पर ले लिया। कोर माथे के आगे कर ली और रोकर बताया, "मैं कुछ नहीं जानती, मैं बेक़सूर हूँ।"

मैं कुछ समाधान की बात कहने वाला ही था कि देखा वह सहसा उठकर वहाँ से तेज़ चाल से झपट चली है। रतना और बिहारी पकड़ने को लपके लेकिन मैंने उन्हें रोक दिया।

भागती-सी हुई वह अपने घर के दरवाज़े पर पहुँची। पाँच-सात मिनट बाद मुझे भी अपने घर से सुरजना बुला कर उधर ही ले गया। मैं नहीं कह सकता कि इसके बीच पाँच-सात मिनट में वहाँ क्या हुआ। पर पहुँचने पर देखा कि भीड़ के बीच में खड़ी मिसरानी कह रही है कि बटुआ तो मेरा था। एक दस का नोट दो रुपये और इतने आने उसमें हैं।

वहीं श्रीमतीजी खड़ी पूछ रही हैं, "और उसमें क्या है?"

"और कुछ क़ाग़ज़ होंगे, बाक़ी पैसा नहीं है।"

तब सबके सामने श्रीमतीजी ने अपने हाथ का बटुआ दिखा कर उसका 'ज़िप' खोला। अन्दर से तीन नए दस-दस के नोट निकले।

यह देख कर मिसरानी का चेहरा राख हो आया था। पर वह दुहाई देती जा रही थी कि जाने किस मुँह जले ने मेरे ट्रंक में बटुआ रख दिया—इत्यादि—इत्यादि।

श्रीमतीजी की तब की रौद्र-मूर्ति का ख्याल आता है तो अब भी जाने क्या मन में होता है। पर उस वक्त उन पर जैसे नशा सवार था। उनके हाथ में बेंत थी। उन्होंने उसे दिखाकर सिर्फ एक शब्द कहा, "चुप।"

जाने क्या हुआ कि मिसरानी एकदम चुप पड़ गई। तब श्रीमतीजी ने खुद आगे बढ़कर कहा, "चलो।" सबसे कहा, "आप लोग जाइए।"

वह इतनी ठण्डी ज़ुबान थी कि जो निकला वही हुआ। उसके बाद फिर मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि क्या हुआ। श्रीमतीजी से ही जान के मालूम हुआ कि उसे वह एक कोठरी में ले गईं। वहाँ पूछकर उसके सारे जीवन का इतिहास जाना। उसके बाद उसने शनैः-शनैः अपना दोष स्वीकार किया। फिर उसे खुद राजी किया कि उसे सजा मिलनी चाहिए। फिर अपने हाथों से, बेंतों से उसे बेहद पीटा।

और बात मैं नहीं जानता, आपसी बातचीत जो उनके बीच हुई हो। लेकिन उनके बेंत से मारने और उस मार पर मिसरानी के चीखने की आवाज मैंने भी सुनी थी।

उसके तत्काल अनन्तर श्रीमतीजी आईं, ओंठ उनके नीले थे और हाथ अब भी काँप रहा था। पर हँसकर अय्यर को उन्होंने उनका पर्स दे दिया। कहा, "देख लीजिए सब ठीक है।"

अय्यर ने बिना देखे कहा, "ठीक है।"

बोलीं, "नहीं, देख लीजिए।"

अय्यर ने सब चीजें देखकर सँभालीं, कहा, "सब ठीक है।"

श्रीमतीजी ने हँसकर कहा, "देखिये मैंने कितनी मेहनत की है। मुझे इनाम नहीं दीजिएगा? आपके तो रुपये जा ही चुके थे, इससे सब रुपये भी अपने इनाम में मैं माँग लूँ तो बेजा नहीं है।"

अय्यर ने वापिस बटुआ उन्हीं के आगे कर दिया।"

श्रीमती हँसकर बोलीं, "इस मरे चमड़े का मैं क्या करूँगी ?" कह कर चारों नोट और दो रुपये निकालकर बाकी बटुआ उन्हीं को लौटा दिया।

मैंने कहा, "मिनी ! तुम्हें शर्म आनी चाहिए। उस बेचारी को तुम कैसे मार सकीं ? कौन जानता है कि किस बेबसी में उसने यह काम किया होगा !"

श्रीमतीजी ने हँसकर कहा, "मैं जानती हूँ। विधवा के भी बेटा हो सकता है और उसका लड़का दूर एक स्कूल में पढ़ता है। सातवीं से अब आठवीं की पढ़ाई करेगा। उसके लिए बेचारी को कुछ चाहिए था...पर चोरी तो चोरी ही है।"

इसके बाद हम दोनों समझ गए कि श्रीमती के इनाम के ४२) रुपये उस दूर के लड़के की आठवीं की पढ़ाई के काम में आएँगे। फिर भी मैंने साहस करके पूछा, "मिसरानी कहाँ है ?"

श्रीमतीजी ने गुस्से में कहा, "कम्बख़्त अभी मरी नहीं है, सिसक रही है।"

हत्या

आखिर शहर छोड़ा और हम लोग एक जङ्गली जगह पहुँचे। वहाँ एक ओवरसियर रहते हैं, उनके अतिथि हुए।

जगह बड़ी सुहावनी है, और एकान्त। एकान्त है, तभी सुहावनी है। नहीं तो आदमी नाम का जन्तु वस्तु-सुहावनी पाये, और उसे सुहावनी छोड़े। रेल का स्टेशन वहाँ से बारह मील होगा, सड़क आठ मील, आदमी की बस्ती पाँच मील। वहाँ बस पहाड़ियाँ हैं, और वन है। एक नदी बहती है, जिसे बाँध से बाँधकर रोक दिया गया है। इस तरह वहाँ बड़ी झील बन गई है। उसी बाँध की देख-भाल के लिए यह ओवरसियर साहब यहाँ बसते हैं। झील में किश्तियाँ पड़ी हैं, और पानी की यहाँ सदा बहार रहती है। जब नदी में और जगह गीली कीच न मिले, तब भी आप यहाँ किश्ती चलाइये।

हमारे विवाह को बरसों-बरस हो गये। जो पत्नी बनकर मेरे साथ आकर मिली थीं, वह हैं, पर उन्हें कोई अब पत्नी नहीं कह सकता। हर बात में वह माँ दीखती हैं। इसमें एकान्त उन्हीं का अपराध नहीं है। हम आपस में छः बालकों के माता-पिता हैं। इधर पति से अधिक मैं भी पिता हो गया हूँ। 'हनीमून' के भी

दिन होते हैं, और हमारे सम्बन्ध में भी वे कभी थे, अब यह मालूम करके कुछ अचरज, कुछ खेद होता है। अब तो हम बुजुर्ग हैं, और वह सब-कुछ अविश्वसनीय तमाशा-सा लगता है।

तब, क्या अधेड़ उमर-वाले मुझसे सुनकर आपको इसका विश्वास होगा कि जङ्गल का किनारा छूते-छूते हम लोग परस्पर पिता-माता नहीं रहे, पति-पत्नी तक नहीं रहे, जैसे प्रेमी और प्रेमिका बन गये। लेकिन, मैं आपको कहता हूँ, शहर शहर है, जङ्गल जङ्गल है। जङ्गल में वनस्पति है, ओस है, घास है, पानी है, आसमान है, हरियाली है। जङ्गल में क़ानून नहीं है, अदब नहीं है, बाज़ार नही है, आदमी नहीं है, अफ़सर नहीं है। तब जङ्गल वह औषध क्यों न हो, जिसे छूकर आदमी में तारुण्य लहरा आये, बुढ़ापा भागे, जीवन उमग कर उठे, और आदमी पशु की भाँति पशु और देवता की नाईं देवता बन जाय ?

मुझे अचरज का अवसर नहीं आया, जब मैंने देखा कि मैं मुग्ध और मूर्ख किशोर बना पत्नी के प्रति रह-रहकर सलज्ज और रह-रहकर निर्लज्ज होने लगा, और पत्नी भी अनजान किशोरी की भाँति व्यवहार करने लगीं।

हम जङ्गल में घास पर बैठे थे। श्री ने कहा,

"हम बन्दूक चलाना सीखेंगे।"

बात यह थी कि पहले रोज़ मित्र के यहाँ बम्बई से नई बन्दूक आई थी।

मैंने कहा, "बन्दूक !"

बोलीं, "हम तो सीखेंगे।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है। ज़रूर सीखोगी।"

बोलीं, "हम घोड़े पर चढ़ेंगे।"

मैंने कहा, "अच्छी बात है। ज़रूर घोड़े पर चढ़ोगी। पर, तुम हल्की कम हो।"

"हाँ, हम मोटे हैं, मोटे हैं। तुम करते रहो ठठोली। और हम घोड़े पर चढ़ना ज़रूर सीखेंगे। इतिहास में इतनी वीराङ्गनाएँ नहीं हुई हैं क्या? और, और मुल्कों में जो स्त्रियाँ सब-कुछ करती हैं।"

मैंने माना, ज़रूर करती हैं। और ज़रूर घोड़े पर चढ़कर ही छोड़ना चाहिए। और मैं यों ही आदमी नहीं हूँ कि मेरी पत्नी किताबी वीराङ्गना तक न बने। आदि-आदि।

मैंने बताया कि ओवरसियर-साहब की वह दूसरी गहरे बदामी रंग की घोड़ी सीधी मालूम होती है। कल उसी पर बैठ-कर देखो। सबसे बड़ी बात न डरने की है। जानवर को यह न मालूम होने देना चाहिए कि वह सवार पर हावी हो सकता है। जानती हो, आत्म-विश्वास सफलता का मन्त्र है। चलकर ओवर-सियर साहब से कहेंगे। और देखो, उस लड़के बज्जी को साथ ले लेना। जानवर बिदकने-बिगड़ने लगे, तो मौके को आदमी साथ रहे, यह अच्छा होता है।

शाम को जब साथ बैठे, तो मैंने बातचीत में मित्र से कहा, "आपने दो जानवर क्यों रख छोड़े हैं? देखता हूँ, उनमें आपस में बनती भी नहीं है, और आपका काम भी एक से मजे में चल सकता है।"

विमनस्क-भाव से वह बोले, "हाँ, पर वह सफेद घोड़ा बदमाश है। बदन में ताक़त है तो उलझे बिना नहीं रहता। अभी तौरस लिया था। काम में मुस्तैद है तो क्या यह मतलब कि औरों को जीने न देगा। यों दोनों को मैं बहुतेरा अलग-अलग रखता हूँ। पर, वह एक बदमाश है। दूसरी, बुढ़िया है।...मेरी मुलाज़मत का यह बीसवाँ साल लग गया है। उसे भी बीसवाँ साल ही समझिये। नौकरी पर बहाल हुए चौथे महीने मैंने यह ली थी।

तब तीन बरस की बछेड़ी थी। इसने मेरे साथ अच्छी निबाही। मेरी पेंशन में अब कुछ ही दिन हैं। आदमी के मुक़ाबले में जानवर की उमर ही क्या है? और मेरी मुलाज़मत का क्या, एक तरह की अफसरी समझिये। इधर इन जानवरों की लाचारगी देखिये। जो दे दिया वही खा लिया, वही पी लिया, और रहते रहे। न पशुता का सुख; न परिवार का सुख। हमारे बोझ को अन्तिम दिन तक अपनी पीठ पर लेकर ढोते रहे, और दिन आया कि ढेर हो गये! सो, पारसाल से मैंने उसकी पेंशन कर दी है। सोचता हूँ, इन्साफ़ यह था कि दस साल पहले उसे पेंशन दे दी जाती।..."

"लेकिन क्यों;" मैंने कहा, "सवारी तो आप अब भी उस पर कर लेते हैं।"

ओवरसियर-साहब ने धीमे से कहा, "हाँ, कर लेता हूँ। बच्चे अपने माँ-बाप पर सवारी नहीं कर लिया करते?"

कहकर उन्होंने ऊपर आँख उठा कर मेरी ओर देखा। उस निगाह की वेदना मानो मेरे भीतर तक गई। जिरह में और प्रश्न करने की बात मेरे जी नहीं आई।

वह कहते रहे, "मैं बिलकुल सवारी न लूँ, तो घोड़ी को दुःख होगा। मैं उसे दुःख नहीं दे सकता। मैं उसके मन की बात समझता हूँ। बीस बरस से हम साथ हैं। इसमें अचरज नहीं है।"

वह घोड़ी के सम्बन्ध में इसी भाँति बहुत-कुछ कहते रहे। मैं सुनता रहा। मैंने सोचा, श्री की घोड़े पर बैठने की इच्छा का अब मुझे क्या बनाना होगा। उनकी बातों में मैं यह समझ रहा था कि उनका इस पशु के साथ सम्बन्ध प्रयोजन और व्यवहार का नहीं है, आत्मीयता का है। उनके सामान और सम्पत्ति का वह अंश नहीं है, उनके मानो परिवार का अंग है। तब मैं सहसा उसके विषय में अपनी गर्ज का प्रदर्शन कैसे कर बैठूँ?

उन्हीं बातों के सिलसिले में मैंने सुना, वह कह रहे हैं—"मेरे

यहाँ जो आते हैं, उनमें बालकों और महिलाओं से मेरी इच्छा रहती है कि वे इस पर अवश्य बैठें। आपकी पत्नी से भी मैं यह कहने वाला था। जो सवारी करना जानते हैं, वे सवारी के अभिमान में भरे हुए जानवर की पीठ पर बैठते हैं। मानो वह खुद में एक जानवर न हों। इसलिये शायद आप से तो मैं न कहता। पर जो चढ़ना नहीं जानते उन्हें लगेगा, गोद तो नहीं, पर अवश्य यह माँ की ही पीठ है। मैं अपने लिये कभी उसे सवारी की पीठ नहीं समझता। एक तरह की सिंहासन की पीठ समझता हूँ। जब स्वयं मैं अपनी आँखों में उठना चाहता हूँ, तब मैं उस पर आसीन होता हूँ।..."

उस समय मैंने श्री की इच्छा की बात कही। सुनकर मानो वह कृतार्थ हुए, और फिर व्यस्त-भाव से घोड़ी का वर्णन करने लगे। बताया, "कब कहाँ किस बालक के अचानक घोड़ी की पीठ से लुढ़क पड़ने पर कैसे वह एक-दम चारों पैर साध कर खड़ी हो गई थी; बच्चे को जरा चोट नहीं आने दी; कैसे किसी-किसी महिला की रक्षा के लिये बनैले पशुओं का उसने सामना किया; कैसी वह समझदार है, कैसी चतुर, कैसी बावफ़ा, कैसी आत्मीयता, आदि आदि।" फिर पुकारा, "बज्जी ओ, बज्जी!"

बज्जी लड़का उस घोड़ी का सेवक है। उसे दो-तीन बार समझा कर कहा, "देखो, सबेरे ही घोड़ी को तैयार करके लाना। बिलकुल सबेरे, देर न हो।"

मित्र की आयु जीवन के दूसरे किनारे की ओर आ रही है। शरीर के साथ मन भी धीमा होता गया है। अब कम बातें रहती जा रही हैं, जिनमें उन्हें जीने का उत्साह अनुभव हो। संख्या में जितनी कम हैं, उतने ही वेग से वह उन्हें पकड़ते हैं। मानो उन्हीं पर टिक कर वह रहते हैं। और मानो रह-रह कर वह टटोल लेते

हैं कि वे उनके आधार उनके साथ ही हैं, नीचे से कहीं खिसक तो नहीं गये !

बज्जी के चले जाने के अनन्तर भी खासी देर तक मित्र घोड़ी को लेकर उत्साहशील रहे । अन्यथा वह मन्द और शिथिल ही देखने में आते हैं ।

: २ :

रात को खूब बारिश हुई । खपरैल पर बौछार तड़तड़ करती पड़ती । बादल गड़गड़ाता । बिजली मुँह चमकाती, और भाग जाती । अपने पुनर्जागृत तारुण्य को हिलोर में हमें यह बहुत अच्छा लगा । जान पड़ा, सब-कुछ हम दोनों के लिए विमोह का सामान प्रस्तुत करने में लगा है । घना अँधेरा और विपुल कोलाहल उपस्थित करके मानो प्रकृति हमें कानोंकान कह रही है, "तुम दो हो, और तुम तरुण हो । बाहर दुनिया और कहीं नहीं है । सबको खो दो । बस, एक-दूसरे में रहो, एक-दूसरे में । तुम्हीं दो हो, जो एक हो, शेष और कुछ नहीं है ।"

हम मग्न थे । लेकिन, हमें क्या मालूम था, बाहर वही प्रकृति क्या कुछ नहीं कर सकती थी ।

सबेरे तक बूँदाबाँदी धीमी हो गई थी । वह भी जैसे रुकने की प्रतीक्षा में थी । श्री सोई पड़ी थीं । मैंने कहा, "उठो । घोड़े पर बैठकर घूमने जाना है कि नहीं ?"

उनके उठने में शीघ्रता नहीं हो सकी । लेकिन उठ ही गई, तब जान पड़ा, घोड़ी के आने की पल-पल देर अब उन्हें असह्य है । पूरी तरह तैयार नहीं हुई कि पूछा, "बज्जी लाया घोड़ी ?

मैंने कहा, "लाता होगा ।

बोलीं, "अच्छा लाता होगा ! क्यों नहीं उसे अपने काम का ख़याल रहता ?"

मैंने पुकारा, "बज्जी, बज्जी !"

बज्जी का पता नहीं था ।

मैंने पुकारा, "पगुई !"

पगुई ने आकर बताया, "बज्जी अपनी जगह नहीं है।"

मैंने पूछा, "बाबू कहाँ हैं ?"

श्री ने कहा, "अच्छा, चाय लाओ।"

पगुई झटपट करके चाय लाया और खबर दी, "ओवरसियर बाबू भी नहीं हैं।"

श्री ने पूछा, "कहाँ गये हैं ?"

पगुई चुप खड़ा रहा।

श्री ने ज़ोर से कहा, "मालूम नहीं, हमें घूमने जाना है ?"

पगुई चुप रहा, और मैंने जब कहा, 'जाओ', तब वह चला गया।

चाय बीच में लेकर मैंने परिस्थिति की आलोचना सुननी शुरू की। कहीं-कहीं इतस्ततः स्वयं भी योग दिया। पास हुआ कि कही बात पूरी न की जाय, तो ग़लती है, भारी ग़लती है, अपराध है। इसका क्या अर्थ होता है कि कोई आशा में रहे, और उसका समय खराब हो ? काम नहीं हो सकता है, तो क्यों नहीं वक्त पर साफ़ 'नहीं' कर दिया जाता। आखिर कहाँ है अब वह बज्जी, और क्या हुए ओवरसियर-साहब ?

मैंने कहना चाहा, "देखो भाई..."

किन्तु तत्क्षण मुझे मालूम हुआ कि मर्द आधिपत्य का प्रेमी है। यह भी मालूम हुआ कि वे दिन अब गये, और सत्य सत्य है, और साँच को दुनिया में कहीं आँच नहीं है, और स्त्री पुरुष की दासी नहीं रहेगी, और...

मैंने मान लिया, "आधिपत्य की आदत ऐतिहासिक दुर्भाग्य से मेरी मज्जा-मज्जा में व्याप्त हो गई होगी, और मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।"

इसी तरह की बातों के बीच में बज्जी आया, और खबर दी कि बाबूजी, घोड़ी की टाँग टूट गई है। अब मरी समझिये।

श्री सुनकर एक दम चिन्ताग्रस्त हो गईं। मैं बज्जी के साथ मेंह में गया, और देखा, एक पेड़ के नीचे घोड़ी खड़ी है। उसकी अगली एक टाँग पुट्ठों पर से बिलकुल अलग हो गई है। बस, खाल के सहारे शरीर के साथ हिलगी हुई लटकी है। उसे अपार वेदना है। वह चल सकती नहीं, बैठ सकती नहीं। दोनों-ओर आँखों से गाढ़े-गाढ़े आँसू निकल कर नीचे तक आ गये हैं। वे गीले मोम की लकीर की तरह वहाँ जमे हुए हैं। घाव से लहू रिस रहा है, और बहुतेरा बाहर आकर जम गया है। आसपास गोश्त के छिछड़े लटक रहे हैं। वहाँ मच्छरों, मक्खियों और भिनगों का अन्त नहीं। बिलकुल पानी में भीग रही है। सारी रात भीगती रही है। मालूम हुआ कि उसकी यह हालत उस बदमाश घोड़े ने की है।

मैंने देखा, पास ही एक ओर भीगते हुए मित्र खड़े हैं। बरसाती नहीं है, न छतरी है। गुम खड़े हैं। मुझे नहीं सूझा, कैसे उन्हें सम्बोधन करके कुछ कहूँ, विमूढ़ खड़ा रह गया।

उसी समय तीनों पैरों पर जोर डाल कर घोड़ी ने एक कदम बढ़ना चाहा। वह गिर भी पड़ती, तो उसे चैन मिलता। पर, उस टूटी टाँग को लेकर ढेर की तरह पड़ जाना तक भी उसके लिए सम्भव न रहा। ज्यों ही टूटी टाँग उसने धरती पर टेकी कि असह्य पीड़ा से उसकी सारी देह काँप गई, मुँह पर मूर्च्छा का भाव हो आया, आँखों में सोत भर आया और वह मुर्दा टाँग फिर डण्डे की तरह अधर लटक गई!

तभी चल कर मित्र मेरे पास आये। कहा, "चलो-चलो। यहाँ भीगने से क्या फायदा है।" और बाँह में हाथ डालकर वह मुझे ले चले।

राह में पूछा, "हाँ, चाय पी ली?"

मैं देख सका, इस प्रश्न में उत्तर की अपेक्षा नहीं है। कुछ है भीतर, जिस तक मेरी निगाह न पहुँचने देने के लिए मानो यह प्रश्न मेरे सामने डाला गया है। जैसे इस प्रश्न का अन्तर डाल कर अपने मर्मस्थ दर्द को उन्होंने मुझ से दूर बना लेना चाहा है।

मैंने कहा, "हाँ, चाय तो पी ली।"

बोले, "पी ली? अच्छा किया। तुम मेंह में भीगने क्यों वहाँ गये? उसे कौन-सा अब जीना है?"

मैंने पूछा, "आप क्या कीजियेगा?"

कुछ देर चुप रहकर उन्होंने पूछा, "क्या करूँ?"

मैंने कहा, "वह अब जी तो सकती नहीं। गोली मार कर खत्म कीजिये।"

उन्होंने आँख उठाकर मुझे देखा।—"मार दूँ?"

मैंने बहुतेरा चाहा कि कह सकूँ 'हाँ'; पर उन उठी हुई और फिर झुकी हुई आँखों में मैंने जो देखा, उसके बाद किसी भाँति मेरे जी में यह साहस नहीं हुआ।

उन्होंने कहा, "नहीं, मुझसे नहीं होगा! ठीक क्या है, कौन जाने। पर, मुझसे नहीं बनेगा।"

मैंने कहा, "आखिर क्या कीजियेगा?"

बोले, "क्या करूँ? अभी तो यह जानता हूँ कि देखूँगा, इलाज हो सकता है या नहीं।"

मैंने संदिग्ध स्वर में कहा, "इलाज हो सकता है?"

वह चुप रह गये।

मैंने कहा, "इलाज अब क्या होगा। मिनटों की तो बात है।"

"मैं नहीं जानता।"—कहकर फिर चुप हो गये।

कुछ देर में सहसा उन्होंने व्यस्त भाव और बलिष्ठ स्वर में पुकारा—"बज्जी!"

जान पड़ा, कुछ बात उन्होंने पकड़ पाई है। वहाँ रहने वाले अपने सब मातहतों को उन्होंने इकट्ठा किया। टिण्डैल, पतरौल, सब को आस-पास के गाँव में भेज दिया। हिदायत दी, जो इस बारे में कुछ भी जानते हों, सब को यहाँ ले आओ। अगर वे कुछ न कर सकें, तो फौरन जिले के अस्पताल में मेरी गाड़ी में उठा कर ले जाना। मेरी बाट मत देखना। और देखिये मुन्शीजी, खर्च की तरफ मत देखियेगा। मुझे आज जरूरी काम है। गिट्टी नपवानी है। जब लौटूँ, घोड़ी यहाँ न देखूँ। समझा?

उन सब लोगों को भेज देने के बाद मित्र फिर आप भी चलने लगे।

मैंने कहा, "कहाँ जा रहे हैं, चाय तो पी लीजिये।"

बोले, "मुझे अब याद आया, मिट्टी नपवानी है! बहुत जरूरी काम है। मुआइना आ गया तो मुश्किल होगी। जल्दी लौटूँगा।

मैंने कहा, "खाने के वक्त तक लौट आइयेगा।"

कहा, "हाँ-हाँ, जरूर।"

वह चले गये, और मैंने जान लिया, उनका काम जल्दी समाप्त नहीं हो पायगा।

: ३ :

वह इतवार का दिन था। उस दिन बहुत से भद्रवर्गीय अँगरेज और हिन्दुस्तानी वहाँ आ जाया करते हैं। स्थान दर्शनीय है, और रमणीय।

सड़क से लगा हुआ हमारा स्थान था, और हम बरामदे में

ड्राफ्ट खेल रहे थे। किसी भी खेल में श्री हारने से इतना डरती हैं कि ड्राफ्ट जैसे खेल में बराबर हारती हैं। जितना हारती हैं उतना ही हारने का डर और जीतने की इच्छा उन्हें सताती है। इसलिए और खेलती हैं; और और हारती हैं। और, और हारती हैं, और और खेलती हैं। रोटी एक तरफ गई और खेलते-खेलते कोई एक बज आया। क्या जाने यह भी बता रही हो कि घोड़ी की दशा पर मन में जो बेचैनी उठती थी, उसे हठात् अस्वीकृत करने के लिये हम यों खेल रहे थे। मन के हर एक असन्तोष को लेकर हम यह आवश्यक बना लेते हैं कि यह दबा रहे, या पास न आये। व्यस्तताओं का बोध सृष्ट करके हम उसे दबाते हैं, और वक्त टालकर उसे दूर हटाते हैं। हम घोड़ी की तात्कालिक परि-चर्या में नहीं लग सकते थे, तब आवश्यक था कि किसी भाँति इतने व्यस्त रहें कि उसका ध्यान हम से परे रहे। सो, शायद, हम खेल रहे थें। मित्र को तो भला अभी लौटना क्यों था?

इतने में देखता हूँ, श्री एकदम उठ कर अन्दर भागी जा रही हैं। मैंने कहा, "क्यों-क्यों?"

ज्ञात हुआ कि सामने से एक अंग्रेज भद्र-पुरुष हमारी ओर ही बढ़ते हुए आ रहे हैं। मोटर सड़क पर खड़ी है। आकर उन्होंने कहा, "सड़क पर एक घोड़ी है। आपकी है?"

मैंने कहा, "नहीं, पर कहिये।"

उन्होंने पूछा, "आपने उसके बारे में क्या सोचा है?"

"निस्सन्देह उसका इलाज कराया जायगा। नहीं तो ज़िले के शहर के अस्पताल में भेजा जायगा। हाँ, वह दूर है।"

सज्जन—"छब्बीस मील है। मैं डाक्टर हूँ। वह अच्छी नहीं हो सकती।"

मैं—"डर तो हमें भी है। पर, भरसक करना हमारा काम है।

स०—"नहीं, उसे गोली दाग देनी चाहिए। आप कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं।"

मैं—"मैं मालिक नहीं हूँ।"

स०—"मालिक मैं भी नहीं हूँ। मैं उनका दोस्त भी नहीं हूँ। लेकिन, मेरे लिए बर्दाश्त करना मुश्किल है। मैं गोली मार सकता हूँ?"

मैं—"अर्ज़ है, मैं मालिक नहीं हूँ।"

स०—"मालिक कहाँ हैं?"

मैं—"यहाँ के ओवरसियर की यह घोड़ी है। आपको शायद आगे सड़क पर ही मिलें।"

स०—"ठीक। न मिलें, तो आप उनसे कहें, फौरन उसे शूट कर दें। नहीं तो अधर्म है, और मैं उनकी रिपोर्ट करने को मजबूर हूँगा।"

वह चले गये। श्री को मैंने फिर बुलाया। आते ही उन्होंने कहा, "वैसी ही बाज़ी लगाओ। अब के तुम कभी नहीं जीत सकते थे। यह कौन था?"

मैंने उस अँगरेज़ की बात बताई। पशु की इस करुणार्त दशा के प्रति श्री में सहानुभूति न थी, सो नहीं; पर यह घोड़ी जातिगत और व्यक्तिगत रूप में उनके निकट इतनी अनात्मीय और इतर कोटि की प्राणी थी कि उसे लेकर उनका मन विकल होने को तैयार न था। स्त्रियाँ स्त्री होती हैं। मैं सोचता हूँ, उनका हृदय कोमल है, सो वह कुछ विशद भी होता तो? मैं ही फिर सोच लेता हूँ, "नहीं, नहीं, यह न सोचूँगा।"

उन्होंने कहा, "यह अँगरेज़ कौन होते हैं, जो हर बात में हमारी दख़ल देंगे?"

मैंने कहा, "उसकी बात कोई बहुत बुरी तो न थी।"

"लेकिन वह कौन होता है ? जानते नहीं, हिन्दुस्तान गुलाम है। तुम गुलामी करो, लेकिन, मैं आज़ाद होना चाहती हूँ।"

मैंने कहा, "वह तो सब ठीक है। और गुलामी में मुझे भी बहुत सुख नहीं मिल रहा है। पर, अँगरेज़ है, इसलिए यह तो नहीं कि वह आदमी भी नहीं है। और आदमी को दया करने का कब अधिकार नहीं है ?"

"अच्छी दया है कि उसे मार दो !"

"और तुम्हारी अच्छी दया है कि उसे मरता हुआ रहने दो !"

"तो जाओ न, तुम यह दया का काम करो। मेरा पीछा छोड़ो।"

और मुझको और ड्राफ्ट को छोड़कर वह चली गईं। मेरी तबीयत, मर्द हूँ तो क्या, यह न हुई कि इस बार हारूँ, और उनको मनाऊँ। तब मैं वहीं बैठा-बैठा गहन तत्त्व की बात सोचने लगा—इस सृष्टि में क्या सार है, क्या असार है। तभी मैंने अपने मन में यह प्रतीति भर पाई कि यहाँ जो-जो असार है, सब पुरुष है, सारभूता बस स्त्री है। और मेरा यहाँ ठौर-ठिकाना तभी तक है, जब तक किन्हीं सारभूता का आश्रय मुझे नसीब है। सोचा चलूँ, कहूँ—"हे स्त्री, मुझे क्षमा कर, क्षमा तेरी शोभा है ! भूल मेरा काम है। हे स्त्री क्षमा कर, उठ, मुझे भोजन दे ! तेरे हाथ का भोजन पाने से ही मुझ में कुछ सार बना है, नहीं तो मैं निस्सार हूँ, नीरस हूँ।"

इसी विचार को सोच-सोचकर मैं श्री के पास जाने के लिए मन मज़बूत कर रहा था। आप जानते हैं, विचार और कृत्य में सम्बन्ध भी है। किन्तु, सम्बन्ध पुष्ट होते-होते उनमें अभिन्नत्व स्थापित हो ही कि बाधा पड़ गई। वही अँगरेज़ सज्जन आ गये। आते ही पूछा, "वह आ गये ?"

मैं—"आपको नहीं मिले ?"

स०—"नहीं, मुझे नहीं मिले। कब तक, आप समझते हैं, वह लौटेंगे ?"

मैं, "क्या कह सकता हूँ! अब तक तो उन्हें आ जाना चाहिए था।"

स०—"देखिये, मुझे जल्दी वापस पहुँचना है। पिछला एक घण्टा मुझे उनके पाने में खोना पड़ा है। उनको इस तरह अपने जानवर के बारे में लापर्वाह नहीं हो जाना चाहिए। मेरा उससे वास्ता नहीं है। लेकिन, मैं रात को सोना चाहता हूँ। मुझे नहीं पसन्द कि मेरा दिल मेरी नींद हराम करे। जानवर कैसे उस हालत में छोड़ा जा सकता है ?....वह कब आएँगे ?"

मैं—"आप तशरीफ रखिये। शायद लौटते ही हों।"

स०—"क्या मुझे रहना होगा ? लेकिन, मेरा बड़ा हर्ज हो रहा है। आध घण्टे से ज्यादा देना, लेकिन, नामुमकिन है।...आप उनके मित्र हैं ?"

मैं—"अतिथि।"

स०—"आप क्या उनकी तरफ से मुझे इजाजत नहीं दे सकते ?"

मैं—"शायद दे भी सकता। लेकिन, उनके सेन्टिमेन्ट्स का मुझे खयाल है।"

स०—"Sentiments !"

मैं—"यह जानवर बीस-बरस से उनके पास है। जानते हैं, उनका क्या उसके साथ वास्ता है ? अपने हाथों कब्र खोद कर उसे गाड़ना आसान नहीं है।"

स०—"(विनीत भाव से) मैं समझता हूँ। मैं समझ सकता हूँ। पर, इसी से मेरी बात और भी मानी जानी चाहिए।"

मैं—"यह दृष्टिबिन्दु की बात है। लेकिन, मुझे इजाज़त दीजिए कि मैं निवेदन करूँ, आप तशरीफ रखें। यह कमरा है। कृपा होगी।"

स०—"नहीं-नहीं। यह तकलीफ़ क्यों? हम इतने अपनी गाड़ी में हैं। कुछ देर की तो बात है।"

किन्तु मेरा अनुरोध हार्दिक था, मैंने उसे ढीला न किया, और वह भी उसे टाल न सके। अपनी सहधर्मिणी को भी मोटर से ले आये। मेरा परिचय कराया, मैंने अपना नाम बता कर सहायता की।

महिला हँसी—"आपका नाम तो अजीब सुन पड़ता है। अच्छा लगता है। आपने इन्हें देखा? मैं इनसे सहमत नहीं हूँ। मैं इनसे सहमत नहीं होती। मैं कहती हूँ, हर काम की जिम्मेदारी ले लेने वाले हम कौन हैं? हमारे भाव हैं, तो दूसरे के भी कुछ भाव हैं। हम कौन हैं कि चाहें, हमारे भावों की रक्षा के लिए दूसरा अपने भावों का उत्सर्ग कर दे।—अगर यह भावों की ही बात हो तो, लेकिन वह भी नहीं है।"

सज्जन ने असमन्जस में कहा, "महाशय, क्षमा कीजिए। हम सदा असहमत होते हैं। और आप क्षमा करें, अगर इसका तमाशा आपके सामने किये बिना हम न रहें। मैं हारता हूँ और कहता हूँ, मेरे पास कोई तर्क नहीं है। लेकिन मैं जानता हूँ, मैं ग़लत नहीं हूँ।"

मैं—"मैं नहीं जानता..."

महिला—"और मैं जानती हूँ, यह ग़लत हैं। और मैं यह भी जानती हूँ कि यह जानते हैं, यह ग़लत हैं। कम-से-कम इन्हें जानना चाहिए। आपको मालूम नहीं, तीन बजे कुछ मित्र हमारे यहाँ निमन्त्रित हैं। और इनके कहने का मतलब यह है कि इनको

मालूम नहीं कि किसी राह-पड़ी झंझट में पड़ कर उस वक्त को बिता देना ग़लत है। मैं कहती हूँ—"

स०—"मैं कहता हूँ, मित्र रुष्ट न होंगे। होंगे, तो हम उनसे क्षमाप्रार्थी हो लेंगे, और दुहरे निमन्त्रण दे लेंगे। किन्तु, प्रिय, क्या इन महाशय का अपने में उलझाना आवश्यक है? (मुझसे) क्षमा कीजिएगा, हमारा मतभेद रहता है। मत-भिन्नता ही क्या जीवन का स्वाद नहीं है? पर, उसको लेकर शायद हम आपके लिए रुचिकर नहीं हो रहे हैं।"

मैं समझ सका, इन दोनों में इससे पहले भी विवाद होता रहा है, उसकी गर्मी में एक अपरिचित को उपस्थिति को ये हठात भूलते और हठात् याद करते हैं। मैंने कहा, "नहीं-नहीं..."

कुछ देर बाद सज्जन ने घड़ी की ओर देख कर कहा,—

"देखिये, अभी वह नहीं आये। अब मेरा दोष नहीं है। अपने मित्र से कहियेगा, मेरा दोष नहीं है।"

मैंने प्रश्नवाचक भाव से उन्हें देखा।

उन्होंने कहा, "मैं चला तो जा ही रहा हूँ। लेकिन यह ठीक नहीं। और मुझे उनकी रिपोर्ट ज़रूर करनी होगी।"

मैंने कहा, "क्या मैं एक बात कह सकता हूँ? मित्र अनुपस्थित हैं, इसका कारण यह है कि घोड़ी के विषय की उनकी अन्तस्थ वेदना यहाँ रह कर उन्हें असह्य होती है।"

मित्र ने ध्यानपूर्वक मेरी बात को सुना, फिर कहा, "होगा। पर यह ठीक नहीं है।" कह कर सज्जन अपनी सहधर्मिणी के साथ चले गये। मैं मोटर तक साथ गया। वहाँ से महिला ने कहा, "आपसे मिलकर हम सुखी हैं। धन्यवाद।"

वह गये और मैं निश्चिन्त हुआ। लौटा, तब भूल गया था

कि मेरे और श्री के बीच कुछ गड़बड़ भी हुई है। भीतर पहुँच कर मैंने कहा, "कहिये साहब ?"

बोलीं, "हाँ, मेम सा'ब से बड़ी घुट-घुट कर बातें कीं। रंग जो गोरा है। मेम मिल ही जाती, तब पता चलता।"

मैंने कहा, "और तुम क्या कम मेम हो। तुम काली मेम सही।"

मतलब इसी तरह हमारे बीच में कुछ-न-कुछ हुआ। कुछ बिगाड़ न हो, तो सुधार क्या हो ? झगड़ा न हो, तो मेल का अवसर किधर से आये ? सो, खाने से पहले हम झगड़े न होते, तो खाने के बाद के हमारे मिलन में मिठास का ऐसा ज्वार किसी प्रकार बनकर न आ सकता। पर, बुरा हो भाग्य का, जिसे सुख सह्य नहीं है। उसी समय कहीं पास ही से बन्दूक का धड़ाका सुनाई दिया। मैं बाहर बरामदे में आया।

देखता हूँ कि वही अँगरेज़ सज्जन धीरे-धीरे बरामदे की ओर ही बढ़ते आ रहे हैं। बन्दूक उनके हाथ में है। उनके आते ही मैंने पूछा, "आपने घोड़ी को मार दिया ? यह ठीक किया !"

उन्होंने शान्त-भाव से जेब से सौ-सौ के दो नोट निकाल कर मेरे सामने मेज़ पर रख दिये। उसके बाद अपने नाम का कार्ड निकाला, और उस पर अपना पूरा पता लिखा। उसे भी मेरे सामने मेज़ पर रख दिया। कहा, "घोड़ी दो-सौ से ज्यादे की हो; तो आप मुझसे कहें। दो-सौ ये रखे हैं। मित्र से कहिये, वह चाहें, तो अदालत में जा सकते हैं। मेरा पूरा पता उस कार्ड पर है। उनसे यह भी कहिये कि मुझे उनकी रिपोर्ट करनी होगी। मेरी सफ़ाई थोड़ी है। दस-बीस मील जाकर मैं लौट आया हूँ। मैं अपनी नींद हराम करना नहीं चाहता था। मैं आया, और मैंने इसे मार दिया। आप मित्र से कहियेगा, वह अदालत जा सकते हैं।"

मैंने कहना चाहा कि अपने मित्र की ओर से मैं उन्हें धन्यवाद दे सकता हूँ, लेकिन वह सज्जन चले गये।

: ४ :

छः-मास बाद मुझे मित्र का पत्र मिला। लिखा था, दो महीने हुए उनकी नौकरी छूट गई। मैंने उसी कार्ड-वाला पता भेजकर उन्हें लिखा, वह नौकरी चाहें तो उस पते से लिखने पर, मुझे विश्वास है, नौकरी फिर मिल जायगी। मैं नहीं जानता, मित्र ने मेरी सलाह पर उक्त पत्र लिखा या नहीं, या नौकरी मिली या नहीं।

२' गँवार

विनोद ने कहा, "आप अच्छा-बुरा कहते हैं। मैं नहीं कहता। आदमियों में कौन अच्छा, कौन बुरा ? सब अच्छे सब बुरे। सब ही अपनी-अपनी तरह के हैं। हर एक वह है जो है,—अपनी तरह का एक है। हर कोई मैं नहीं हूँ। और हम सब वह नहीं हैं। —उनमें श्रेणियाँ करने लगें तो उतनी करनी होंगी जितनी उनकी संख्या। फिर उनमें ऊँच-नीच भी न होगा।—अच्छाई-बुराई है। अर्थात् अच्छाई-बुराई, यों न हो, जीवन की चेष्टा का जन्म है। कुछ को हरा कर अच्छाई अपनाने का उद्देश्य लेकर आदमी में चेष्टा का जन्म है। कुछ को हराकर दबा देना होगा, और, कुछ और तक उठ कर उसे पा लेना होगा। यह न हो, यद्यपि अत्यन्त वास्तव में यह नहीं फिर भी हमारी समझ के लिए ऐसा न हो, तो जीवन का अर्थ ही विलुप्त हो जाय, हम जी न सकें।—इस तरह अच्छाई बुराई है।—पर अच्छे-बुरे होने की कोई जगह नहीं है। अच्छाई-बुराई को अच्छी तरह समझ देखें तो अच्छा-बुरा मान कर काम चलाने की आदत से छूटें,—उस प्रकार की आवश्यकता से ऊपर हो जायँ। आदमी ही अच्छा-बुरा होने लग जाय, तो देव-दानव किस लिए हैं ?—इसलिए, कि हम भूल न करें

आदमी अच्छा-बुरा नहीं है, आदमी आदमी है।—आदमी को प्यार करो, बुराई का पातक दानव के माथे डालो।—जानते हो सदाचार का पैमाना लेकर, झट नाप-तोल कर, आदमियों पर अच्छे-बुरे का लेबिल चिपका देकर काम चलाने की बान डाल लेने का क्या परिणाम हुआ ?—हम में विषमता फूट उठी है, हमारे बीच में से प्रेम उठ गया है। जानते हो, एक को सदाचारी कहकर उसे सामाजिक सम्मान दे उठने, और दूसरे को दुराचारी कहकर उसे जेल में ठूँस देने को उद्यत रहने का क्या परिणाम हुआ है ?—समस्याएँ बढ़ी हैं और हम हीन रह गये हैं।"

विनोद बोलता रहा। और किसी को बीच में कुछ कहने का अवकाश जैसे उसने—नहीं दिया—

"...और जानते हो, क्या परिणाम हुआ है? लोग लेबिल पर जाते हैं। जिसको सदाचारी समझ लिया जाता है, वह अपने को दुराचारी समझना छोड़ देता है। हम उसे यह समझने में मदद देते हैं, और फलतः वह दम्भी बनता है। इस तरह आज देखते हैं कि जो भद्र माने जाते हैं उसी श्रेणी के लोगों में, वस्तुतः, अच्छे बनने की चिन्ता की सबसे अधिक जरूरत है। उनके हाथ में शासन-दण्ड है, समाज-दण्ड है,—मानो, वह अब शैतान बन जायँ तो भी सज्जन हैं। दम्भ उन में जम कर है। जहाँ आत्म-निरीक्षण की वृत्ति होनी चाहिए वहाँ पसर-कर आलोचना बैठी है।...हम जो यहाँ हैं, सम्भ्रान्त हैं। मैं कहता हूँ, हम तनिक भी सम्भ्रान्त नहीं हैं। हम बस कठिन हैं। आँसू हमारे पास कम हैं, हृदय हमारा परुष है, अनुभूतिहीन हो सका है, सो ही हम पैसेवाले, संस्कृति, शिक्षा और सभ्यतावाले भले लोग हैं। वह दिन आये कि हमारी धारणा ढीली हो कि हम सभ्य, शिक्षित, संस्कृत, सम्माननीय हैं। तब हम सहसा ही देख उठेंगे, हम कैसे अधम, निम्न हैं। उनसे बुरे हैं जिन्हें हम बुरा समझते हैं।..."

विनोद यहाँ कुछ ठहरा, देखा, मानो कहा, "शङ्का हो तो करो, और निवारण करो, नहीं तो वह आगे बढ़े।"

हम सब सुन रहे थे। विनोद सबका विरोध लेने को तैयार होकर कभी ऐसी बातें कह उठता है जिन्हें समझने की हम कभी जरूरत नहीं समझते। न कहूँगा, वे अनसमझी की बातें हैं। ऐसा कहने में मेरी ओछी भी होगी। क्योंकि विनोद की विचार-शीलता की उन पर धाक है, जिनकी मुझ पर धाक है। होगी उन पर धाक। अपनी वे जानें। जो करता है, हमें तो उस में कुछ लुत्फ़ मिलता नहीं। पहले तो समझ नहीं आतीं। सौ में एक बात समझे भी तो बेमजा। सिर खपाओ तब समझो। और ऐसे समझने से क्या हाथ आये, पता नहीं।

हम में से एक ने पूछा, "विनोद यह क्या कह रहे हो ? जानते हैं, तुम बहुत जानते हो। पर बात सँभाल कर कहो।"

विनोद मुसकरा कर रह गया। मानो कहा, "सँभाल कर वह कहे जो सँभला न हो, या जिसे शङ्का हो।"

मित्र बोले, "तुमने कहा, वह दूसरे शब्दों में यह है कि आदमी में अच्छाई-बुराई है; पर, जिसमें अच्छाई है वह अच्छा नहीं; बुराई है, वह बुरा नहीं !—क्यों यही न ?"

और मित्र जोर से हँसे—अह...ह...ह

हमने देखा कि विनोद अब फँसा। उसे पता न होगा, बातों का जो झमेला-सा खड़ा कर रहा है, उन में आप ही फँसना होगा।

विनोद—"ठीक यही मैंने कहा ?"

मित्र जैसे हँसना चाह कर भी नहीं हँस सके। बोले, "फिर अच्छाई-बुराई आदमी के भीतर होने का मतलब ? और फिर बुराई दूर करके अच्छाई अपने भीतर लाने में सचेष्ट होने का अर्थ ? अच्छे-बुरे जब हम हो ही नहीं सकते, तो कहाँ का पाप-वाप, छोड़ें सब झगड़े को।"

मुझे यह अच्छा नहीं लगता। और नहीं, तो पाप-पुण्य पर ही खपो। यह तो नहीं कि कुछ काम की बात हो। न हो, एक लतीफा ही सही।

मैंने कहा, "विनोद, छोड़ो इस झंझट को। न कोई अच्छा सही, न बुरा सही। फिर भी, अच्छाई-बुराई सही। जो कहो, माना। पर, विनोद, कोई मजे की चीज सुनाओ, कोई लतीफ़ा सुनाओ।"

विनोद—"कहानी ही सुनाता हूँ। उसी का यह सिर है। या कहो पूँछ है। आदमी एक ऐसा जानवर है जो बिना पूँछ है। इससे बिना-सिर हो वह, तो भी मुजायका नहीं। पर, कहानी वैसा जानवर नहीं।...और, मैं फैशन नहीं जानता। फैशन जानने के लिए रुकना भी नहीं चाहता। हाँ, वह आप का अर्थ? उसी अर्थ पर जोर देने का मेरा यत्न है। मैं चाहता हूँ, कुछ हो हमारे लिए जो हमें सदा अस्वीकार्य हो,—एक निषेध का आधार, जिससे हमारा सम्बन्ध निषेध का, खण्डन का, युद्ध का ही हो। जिसके साथ समझौता हम किसी भी भाँति न करें। उसी को मैं कहता हूँ 'बुराई।' फिर वह भी कुछ हमारे साथ हो जो सब युद्धों में हमारी टेक रहे।—वही अच्छाई, वही सत्य। इस तरह सत्य को और असत्य को अत्यन्त स्वयंसिद्ध Positive बनाकर हम जीएँ। तब देखेंगे, हम सदा लड़ते ही चलते हैं। सत्य के प्रति निरन्तर लगन असत्य के प्रति निरपवाद अनसमझौते के भाव से हमें भरा रखती है। अब, मैं यह भी चाहता हूँ कि प्राणी-मात्र के,—वस्तु-मात्र के साथ हमारा ऐक्य हो, प्रेम का सम्बन्ध हो। यहीं वह तुम्हारा अर्थ आता है। हम बुराई से सदा लड़ेंगे ही। और कोई चारा नहीं है, कोई बचाव नहीं है। पर जिसमें बुराई है, इस कारण, क्या उससे प्रेम-भाव रखने से हम वञ्चित हो जायँ? नहीं, इसकी इजाजत नहीं है। इसी से मैं कहता हूँ कि

हम मानें, बुराई जिस में है, वह बुरा नहीं है। मेरी उस बात का अर्थ यही है। अच्छाई को भी मनुष्य से इसी भाँति हम अलग करके समझें। तब हमारा लोगों में समभाव स्थिर हो। यह समझ कर चलें, तभी त्राण है। इसी से मैं 'सदाचार' का उपदेशक नहीं हूँ, विरोधी हूँ। क्योंकि, उस से दम्भ बढ़ता है। मैं समझता हूँ, मेरी बात अब आप की समझ में आ रही है।"

कोई यह मानने को तैयार न था कि बात उनकी समझ में नहीं आ रही। और सब यह मान रहे थे कि बात समझ में आ रही है, और यह भी समझ में आ रहा है कि वह व्यर्थ है।

पर मेरे पास प्रतिष्ठा की कोई गठरी नहीं है, जिसकी रक्षा की मुझे चिन्ता रहे। मैंने कहा, "विनोद, मैं तुम्हें इस तरह की बात और न करने दूँगा, जिसका सिर नहीं दिखता, पैर नहीं दिखता, पर पेट ऐसा दीख पड़ता है कि उसमें दुनिया खो जाय। तुम जब कहानियाँ कह सकते हो, फिर ऐसी वाहियात बातें क्यों ले बैठते हो? और .."

विनोद ने कहा, "एक दिन मैं..."

अब हमारे जी में जी आया, और टाँग फैलाकर, अपनी-अपनी कुर्सियों में सँभलकर हम बैठ रहे।

: २ :

विनोद ने कहा—

"एक दिन मैं फिर विद्याधर के यहाँ जाने की जरूरत में पड़ गया। मित्र विद्याधर को आप न जानते होंगे। आपकी लाइन की कोई लियाकत उसमें नहीं है कि आप उसे जानें। विद्याधर सर्वथा साधारण है। एक सभा के दफ्तर में क्लर्क है। और मुश्किल यह है कि बरसों-बरस अपनी निज की चेष्टा से हमारी सम्भ्रान्त श्रेणी से विच्छिन्न होकर वह साधारण बना है। खैर, कुछ हो, मेरे लिए

उसकी बड़ी लियाकत यह है कि वह अपने को लायक नहीं समझता। मैं भी बहुत उससे नहीं मिलता । जरूरत होती है, तभी मिलता हूँ। जरूरत क्यों होनी चाहिए, यह आप पूछ सकते हैं। हम सम्भ्रान्त कैसे, जो निम्न से मिलने की जरूरत हमें हो ! किन्तु मैं आप से कहता हूँ, मैं अपने को लेकर कभी-कभी बड़ी दुविधा, बड़े क्लेश में हो जाता हूँ। फूट-फूटकर मुझे अपने आँसू बहाने होते हैं। यहाँ आपके सामने विज्ञ धीमान् बनकर घण्टों हँसता हुआ जो बड़ी बातें सुनाता रहता हूँ, सो इसी कारण कि घड़ी-आध-घड़ी अकेले में किसी अज्ञेय के सामने, धरती पर लोट-कर, अपने को अज्ञ निम्मातिनिम्न बनाकर रो लिया करता हूँ। खैर, जब जी ऐसा होता है, बे-काबू हो जाता है, भीतर से फटकर बहना चाहता है, और मुझे चारों ओर एक ऊष्म उसाँस का वलय घुमड़ता हुआ ऐसा दीखता है जैसे विकल हो, हाय ! कि वह तरल होकर टप-टप टपक क्यों नहीं जाता, तब मैं चुप, सिर हाथ में लेकर बैठ रहता हूँ, कहीं नहीं जाता। और, कुछ रुककर विद्याधर के यहाँ जाता हूँ।

मैंने विद्याधर के कमरे में प्रवेश किया और देखा कि एक आदमी जूतों के पास, टाट पर, कमरे की छत देखता हुआ बैठा है और विद्याधर मेज पर चिट्ठी लिखने में लगा हुआ है।

मैंने अँगरेजी में विद्याधर से कहा, "विद्याधर, यह किसे बिठाल रखा है ?"

विद्याधर ने एक साथ मेज पर से मुँह उठाया, "क्या !"

उसने भी देखा कि एक आदमी बैठा हुआ है। जैसे उसे यह पता न था। विद्याधर ने उससे कहा, "मैंने आपसे कह दिया था, स्वामी जी यहाँ नहीं हैं। मुझे मालूम न था, फिर भी आप बैठे ही रहे हैं।"

दिया कि आँखें खुल आईं। हम अँधियारे में सोते पड़े थे। स्वामी जी ने ऐसा जगाया, कि जनम-जनम जस मानेंगे।...''

पन्द्रह रुपये मासिक पाकर इस सभा का वह निकम्मा उपदेशक स्वामी,—जो गाँव-गाँव उपदेश देता डोलता है और जो किसी ओर से कुछ नहीं है; नितान्त बिना पेंदी, बिना सिर है, और जो पेट-ही-पेट है; उसी अकर्मण्य का यह गँवार जस गा रहा है ! मैंने अपना माथा ठोक लिया। पूछा, "तो बैठे कैसे हो ?"

उसने कहा, "जी स्वामी तो हैं नहीं। बैठा था कि इन बाबूजी को फुर्सत हो तो कहूँ, कुछ ज्ञान का उपदेस सुना दें।"

मैंने कहा, "इनको तो फुर्सत नहीं हो सकेगी ! और यह उपदेश भी नहीं सुनाया करते।"

वह बोला, "हाँ जी, उपदेस तो बस स्वामी जी देते हैं। चित परफुल्लित हो जाता है। पर, हम जैसों को इनका ही बहुत है...और, सोई, मैं देख रहा हूँ, बाबूजी को फुरसत नहीं होगी। और मैं चुप बैठा हूँ, कुछ कह नहीं रहा हूँ।"

मैंने कहा, "तो फिजूल क्यों बैठते हो ?"

वह अपराधी की भाँति त्रस्त हो उठा।

"...जी, मैंने पूछ ली थी, हरज तो नहीं कर रहा हूँ। हरज कर रहा होऊँ, तो मैं अभी उठकर चला जाता हूँ। मैं तो यों ही बैठा था, बैठा, सान्ती की बात कुछ सोच रहा था।"

मैंने कहा, "हरज की बात नहीं, तुम्हारा वक्त भी तो खराब होता है। तुमको और भी तो दस काम होंगे। गाँव वाले बेकाम नहीं होते।"

उसने कहा, "बखत तो, जी, यहाँ मेरा अच्छा होता है। खराब गाम में होता है, ऐसा खराब होता है कि जी, हप्ते-के-हप्ते यहीं आ कर बैठ जाया करूँगा और, काम तो लगा ही रहता है। जहाँ पेट

है, वहाँ काम है। पर, एक रोज कभी-कभी भगवान् के नाम का भी तो देना चाहिए। काम से खाली एक दिन भी नहीं रखेंगे तो उसे क्या देंगे। सो आज के रोज तो मैंने सङ्कल्प किया है कि मैं कोई काम की बात नहीं सोचूँगा। ये ही स्वामी जी ने कहा था। कहा था, "भागवानो भगवान् को कुछ दो।" सो तब रुपया-पैसा जो सकती थी दिया। उन्होंने ये भी कहा था 'सातवें-आठवें एक दिन भी भगवान् के नाम का निकाला करो जिस रोज कोई कुकरम नहीं करना, सान्ती-चित्त से रहना।' सो मैंने आज का रोज़ रख लिया है, आज मैं काम की कोई बात नहीं सोचूँगा। परमारथ की सब बात सोचूँगा।"

चुप रहा। मैं समझ गया, यहाँ मेरी एक न चलेगी। मैं हार बैठा। वह गँवार भी चुप हो रहा।

मैंने कहा, "विद्याधर, जाने यह आदमी कहाँ से आ मरा है। इसने मुझे हल्का कर दिया है। जी होता है, इस गँवार पर, रोष क्या करूँ, हँस पड़ूँ। क्या विचित्र जीव है!...अब मुझसे अपनी बात कहते क्या बनेगी। और यह भी यहाँ से क्या टलेगा!"

विद्याधर ने कहा, "विनोद, तुम विश्वास रख सकते हो, यह आदमी स्वयं अपने मन के भीतर इस समय हल्का नहीं है। इसके साथ भी कुछ है जो गाँठ की तरह बन्द है, और भारी है।"

मैं चुप हो गया। सभी चुप थे। ऐसे कुछ देर निकली।

तभी गँवार ने कहा, "जी, मेरे पास पचास रुपये हैं। मैं उन्हें कहाँ दान करूँ?"

हम दोनों ने उसकी ओर देखा। क्या वह पचास रुपये दान देने के लिए आकर ही वहाँ जूतों के पास अपना स्थान बनाकर बैठा है?

"जी, मेरी आमदनी डेढ़ सौ रुपया महावार से ज्यादा की

नहीं है। हियाव और करूँ, और दया कम पालूँ, और उसी के पीछे पड़ा रहूँ, तो कुछ और बढ़ सकती है। बढ़-से-बढ़ दो-सौ हो जायगी। पर मुझे ऐसे दो-सौ का क्या करना है। डेढ़-सौ का ठीक-ठियाव मुझ से नहीं होता। मेरे एक लड़का है जो उमर वाला हो गया है। वह मेरी फिकर कर सकता है, सो उसकी मुझे फिकर नहीं है। आप खाने जोग उसके पास है, सो बहुत है। पचास रुपये में हमारा खरच खूब चल जाता है, उसमें से भीड़ पड़े के लिए कुछ बचाकर भी रख सकते हैं। सो मैंने सोचा है, सौ रुपया महीने-के-महीने मैं किसी भगवान् के काम में लगा दिया करूँगा। हर पखवाड़े मैं आप आकर पचास-पचास दे जाया करूँगा। बाबू जी, मुझे बताओ मैं रुपये कहाँ दे जाया करूँ? ऐसी जगह बताओ जहाँ देकर दो दीनों को सुख मिले, और भगवान् भी आसीरवाद दें, और मेरे चित्त को भी खूब सान्ती मिले।..."

विद्याधर ने कहा, "तुमको चाहिए, तुम यह रुपया किसी को न दो। रुपया लेने वाले सब हैं। पर जो देने वाले हैं उन्हें मैं कहता हूँ, न दें।"

उसने कहा, "बाबू जी, मेरे चित्त को सान्ती नहीं है। कैसे हो सकता है, मैं नहीं दूँ। मैं तो अपने स्वारथ को देता हूँ।"

विद्याधर ने अनाथाश्रम का पता बताकर कहा, "तो जाओ। वहाँ देना, और पचास की रसीद ले आना।"

उसने मानो हाथ जोड़कर कहा, "बाबू जी, देकर मैं फिर यहीं आ जाऊँ। मैं रात से पहले गाम नहीं पहुँचना चाहता। आप ठौर दें दो तो सवेरे जाऊँ,—रात यहीं काट दूँ।"

विद्याधर ने कहा, "हाँ, देकर यहाँ आओ, तब देखा जायगा।"

वह गँवार बहुत धन्यवाद देता हुआ वहाँ से चला गया।

: ३ :

विद्याधर ने कहा, "देखते हो ? अब तुम अपनी बात शुरू कर सकते हो।"

किन्तु, मैं अपनी बात शुरू नहीं कर सकता था। मन की स्थिति वह नहीं रह गई थी। मुझ पर असर पड़ा था। मैं जानना चाहता था कि क्या लेकर उस गँवार में यह पागलपन उठा है कि रुपये दे डालना चाहता है, पास नहीं रखना चाहता। और इस जमाने में सौ-रुपये जैसी रकम को प्रतिमास दे डालने का सामर्थ्य और गौरव अपने पास रखते हुए भी वह किस भाँति इतना गौरवहीन, गर्वहीन, विनयावनत है कि जूतों के पास बैठता है, रिरियाकर बोलता है, ऊपर आँख मिलाकर नहीं देखता। यह मात्र अज्ञता है ? मज्जागत निम्नता है ?—क्या है ? और जो भी है, क्या वह अनुपादेय है, हेय है ?

मेरे मन की बात मन में ही गड़कर नीचे रह गई, ऊपर यह गँवार की बात आकर फैल गई। मैंने कहा, "विद्याधर, अपनी बात कहूँगा। कहे बिना रहा जायगा ? नहीं रहा जायगा। पर इसके लिए फिर कभी आना होगा।...विद्याधर, मैं क्या असहिष्णु हूँ, मैंने क्या जिन्दगी में कुछ कम सहा है, कम जाना है, कम सीखा है ? पर, इस बीती के सामने मैं सबका-सब रखा रह गया हूँ। किधर से भी मेरा कुछ बस नहीं चलता। उसमें मेरे प्रति ऐसी उपेक्षा आ बसी है कि जब देखता हूँ, जी होता है पहले गोली मार दूँ, फिर चूम लूँ, फिर अपने सीने में गोली मारकर, सब साध के साथ, आप ठण्डा हो जाऊँ। यही नहीं, तो ऐसा ही कुछ, अब तक कभी का हो जाता।—पर, सोचा, तुम हो। मैं नहीं मरूँगा।"

छैलबिहारी ने कहा, "विनोद, विनोद, यह सब-कुछ तुमने

कहा ? उस विद्याधर से तुमने—तुमने ! यह कहा ? सच बोलो ? यह सच कहा ?"

विनोद ने अपनी वही विनोदशील दृष्टि हम-सब लोगों के ऊपर उठा कर हमें देखा। बोला," हाँ, विद्याधर से ही यह कहा। क्या और किसी से कह सकता था ? कह सकता हूँ ? और क्या विद्याधर से झूठ कह सकता हूँ ?...तुम मुझे विनोद जानते हो। विनोद हूँ, पर आदमी हूँ।"

और मैंने विद्याधर से कहा, "नहीं मैं न मरूँगा। और कोई इस तरह का काम नहीं करूँगा। यही तो है आशा के शव को जी में लिये रह कर जिऊँगा, तब-तक जब-तक कि या तो उस शव में साँस चल आये, या उसे दाह कर भस्म कर दूँ ।...लेकिन अभी मैं भी न कहूँगा, तुम भी न सुनोगे। हमारे बीच में राह काटकर यह गँवार आ निकला है। इसको अपनी राह तै करते हुए हमारे बीच में से निकल जाने दो। तब तुम सुनोगे, और तब मैं कहूँगा। अभी तो, विद्याधर, मैं जाता हूँ। वह आदमी लौटकर फिर तुम्हें मिलेगा। उसकी बात मैं जानना चाहता हूँ। हो तो मिलना। तुम तो कभी घर आते नहीं। शायद ही कहीं जाते होगे। तुम ऐसे ही बने हो। मैं तुम पर ईर्ष्या करता हूँ, विद्याधर, ईर्ष्या। तो, तुम नहीं आओगे ? खैर, मैं ही आऊँगा।"

विद्याधर ने कहा, "विनोद, बहुत ठीक हुआ है कि बीच में वह आदमी आया है। मैं कहता हूँ, उसके भीतर भी कहीं गहरा चीरा लगा है। पर; उसका दर्द तुम से भिन्न है। वह खिंचना नहीं, मुड़ना चाहता है। दुनिया में ऐसा ही है। कोई अफरा है, कोई भूखा है। एक को चूरन चाहिए दूसरे को नाज के दर्शन नहीं। पर, विनोद, वक्त बड़ी चीज है। उसका नाम काल है, पर अमृत भी कोई और नहीं है। काल अमृत है। अपनी राह जाये जाओ, दिन आने-जाने दो और बीतते जाने दो,—गहरे-से-गहरा घाव

नहीं जो इस विध भर न जाय। मुझसे अवश्य कहो, पर, यह भी अवश्य करो। प्रेम गड्ढा छोड़ जाता है, काल का काम है बैठा-बैठा, ऐसे गड्ढों को भरे। वह प्रेम भयावह है जिसमें अभाव नहीं तृप्ति है,—वह तभी तब घृण्य हो उठता है। उसमें कविता नहीं रहती, मानवता नहीं रहती; निरी कामुकता रहती है। प्रेम प्रेम तब है जब दोनों ओर अभाव है, दोनों ओर आशा शेष है, निराशा वर्तमान है। उस अभावमय भाव और आशा-सिंचित निराशा की धूनी देकर जब हम विराट की आरती करते हैं, कहते हैं—हे राम, मैं प्रतिक्षण मर रहा हूँ, पर तेरे लिये जी रहा हूँ,—तभी हमें आलोकमय जीवन की स्फूर्ति प्राप्त होती है। विनोद, जो इस तरह एक बार मरकर जिया है उसने जीवन का स्वाद जाना है। ...विनोद, निराशा से छुट्टी पाने के लिये मत मरो, उसे अपना लो, और उसे निर्माल्य बना लो। देवता को तुम्हारी निःशल्य वेदना का अर्घ्य ही सर्वप्रिय होगा। इसी भाँति तुम निर्वेद होगे।"

आप लोगों से मैं कहूँ, विद्याधर ने यह सब कहा, पर लगा, जैसे वह अपने को ही कह रहा है, मुझे नहीं कह रहा है। जब वह इस तरह कहता है, मुझे अतीव सुख होता है। मैं ही हूँ जो उसके हृन्मर्म में से ऐसी गुह्य परमाकाँक्षा के खिंच आकर बाहर उद्दीप्त हो उठने में उपयुक्त उपलक्ष्य बनकर काम आता हूँ,—यह पाकर मुझे सुख होता है।

मैं वहाँ और नहीं ठहरा, चला आया।

: ४ :

"क्या आप समझते हैं, वह विद्याधर फिर मेरे यहाँ आया ? पर, मैं कह रहा हूँ, वह आया।

मैंने कहा, "आओ ! धन्य भाग्य !"

उसने कहा, "वह आदमी लौट कर आया था। और मैं सम-

झता हूँ, प्रति मङ्गलवार को आया करेगा। उसने एक प्रतिज्ञा ली है। प्रतिदिन उसे दोहराता है और लगभग प्रतिदिन उसे तोड़ता भी है। अभागा उसी त्रास में सान्त्वना खोजता मङ्गलवार को मेरे दफ्तर में आकर बैठा करेगा और हर दूसरे मङ्गलवार को दान के पचास रुपये लाया करेगा। विनोद, तुम कुछ समझ सकते हो ?"

मैं कुछ भी नहीं समझ सका।

विद्याधर ने कहा, "अपने गाँव का पाँच आने हिस्से का वह ज़मींदार है। धर्म की ओर उसकी रुचि रही है। जलसे-सभाओं में हिस्सा लेता रहा है। पैंतीस वर्ष की अवस्था से विधुर है। लड़का उसका तब आठ वर्ष का था। अब वह उन्नीस वर्ष का है। बस एक साल बाद की बात है :—

गाँव में एक पुनिया रहती थी। अच्छे चलन की वह नहीं समझी जाती थी। इस आदमी का उससे दूर का कुछ नाता भी था। बचपन से विधवा थी, औरों की वह सुनी-अनसुनी कर देती थी, इसकी कहन उसे सालती थी। वह इज्जत करती थी तो इसी आदमी की। औरों से भरी-राह रार करते उसे कुछ नहीं होता था। इसके सामने आँख ऊपर उठाना भारी हो जाता था।

एक दिन किसी ने कुछ सुना था, या देखा था, या क्या, कि लोगों ने पुनिया के द्वार पर आकर खोल-खोलकर उसे खरी-खोटी सुनानी शुरू कर दीं। वह तब भी सामने मुकाबले को निकल आई और बकने लगी।

इतने में यह आदमी उधर को निकला। हजूम देखकर उधर जो चला तो देखता है कि यहाँ यह हो रहा है!

सीधे पहुँच कर दो थप्पड़ पुनिया को जमाये। पुनिया मारे लाज के बिलकुल चुप हो गई। एक शब्द आगे मुँह से नहीं निकाल

सकी। इसने उसे बुरा-भला कहकर, धक्का देकर भीतर कर दिया।

फिर सामने इकट्ठे लोगों को ललकार कर, डरा-धमका कर, अलहदा किया।

लोग बुरी-भली कहते-सुनते राह लगे।

उसके बाद इसने घर के भीतर पहुँचकर कहा, "कुलच्छनी, तुझे हया नहीं है। ऐसा हियाव तेरा कि खुले चौंतरे मर्दों से रार करती है !"

पुनिया घूँघट में थी। उसी में बन्द , चुप रही।

इसने कहा, "अबकी कुछ हुआ, काला मुँह करके गाँव से बाहर करवा दूँगा, जो कुछ समझती है। नहीं तो, आबरू से रह।"

वह अपने माथे की चोट को लेकर अलग बैठ रही।

धरती को चोट देकर पैर पटकता हुआ यह आदमी अपने घर आ गया।

लेकिन लोगों में चर्चा फैली, आलोचना हुई। और मौका पाकर वे फिर पुनिया के द्वार इकट्ठे हो गये, और इसी आदमी का नाम ले-लेकर भाँति-भाँति के व्यंग-बाण भीतर फेंकने लगे।

मालूम करके यह आदमी तुरन्त वहाँ पहुँचा। एकत्रित समूह को सम्बोधन कर बोला, "बेहयाओ, तुम मर्द नहीं हो, जानवर हो। हटो, पुनिया मेरे यहाँ रहेगी। फिर देखें, कौन क्या कहता है ? चलो, उठो।"

पुनिया नहीं उठी, घूँघट में बैठी रही। वह रोती थी।

"उठती है ?"

वह नहीं उठी।

झटक कर उसका हाथ पकड़ कर उठाते हुए कहा—

"चल, उठ। अभी चल, कम्बख्त ! नहीं चलती ?"

तब पुनिया उठी और धीमे-धीमे डग-डग बढ़ी।

उस घर में ताला डाल कर, बिना कुछ कहे-सुने, चुप पुनिया के पीछे-पीछे वह अपने घर आ गया। लोगों में सन्नाटा रहा। दोनों घर पहुँच गये, तब सबके मुँह खुल पड़े। इसको दस साल हो गये हैं।

और, और···फिर क्या हुआ ?···एक बालक भी हुआ, जो मर गया।···पर जो हुआ, वह कहता है, पुनिया का दोष नहीं है। अपने स्वर्ग को और परलोक को बन्धक रखकर, हा-हा खाकर, कहता है, पुनिया का दोष नहीं है। पशु वही है, वही है !

उसने प्रतिज्ञा की है। कर-कर के हार चुका है, पर कौन भागवान दिन है जब वह नहीं टूटता। कहता है, मैं क्या करूँ, मैं सब कुछ करके हार बैठा हूँ, पर उसे सामने पाता हूँ तो सब भूल जाता हूँ।··और कहता है, वह ऐसी सती है कि सतजुग में भी एक ही थी।

पुनिया तो पुण्य की प्रतिमा है। पर, हाय, जाने उसको, उसको खुद को, क्या हो जाता है कि···।

और प्रतिज्ञा कायम न रख सकने के साथ यह भी उसके भीतर कसक है कि वह पुनिया को जीत नहीं सका है। पुनिया उसके साथ सब-कुछ में से गुजर कर सदा निर्विकार ही रहती आई है। कभी भी उद्विग्न, अवश, बेकाबू, मोहापन्न, लोमहर्ष, नहीं हो उठी।

विनोद, इसलिए यह सौ रुपया मासिक का दान है, और मंगल पर्व का व्रत है। विनोद, इस तरह आदमी चलता है !"

: ५ :

विनोद ने कहा, "इसलिए मैं कहता हूँ हम सावधान रहें, क्या अच्छा, क्या बुरा ?"

मैंने कहा, "विनोद, उस गँवार की कहानी हुई, और दूर

हुई। लेकिन, जिसकी झाँकी हम ले चुके हैं, उस तुम्हारी कहानी को हम तुमसे वसूल करके छोड़ेंगे।"

मित्र ने कहा, "अच्छे-बुरे की बात तुम्हारी सब फिजूल है। हमें वैसी बातें नहीं चाहिएँ। उनके लिए हम किताबें पढ़ लेंगे। तुमसे कुछ किताबों से ताजा चीज, हलकी चीज, तबीयत की चीज़ चाहते हैं। ऐसी बातों को हटा दो तो तुम्हारी कहानी खरा सोना हो जाय, खरा सोना। इस तरह की इधर-उधर की बेमतलब बातों से तुम्हें उसे मट्टी बना देने की जाने क्या आदत पड़ गई है!"

विनोद ने कहा, "खरा सोना तुम चाहते हो? अच्छा लगेगा, पचेगा नहीं। पर, शायद तुम्हें पचने की फिक्र नहीं।"

मैंने कहा, "अपनी बीती सुनाओगे? कहो, सुनाओगे?"

विनोद, "विद्याधर को सुनाऊँगा। विद्याधर बनो, तब सुनाऊँगा। पर तब कहोगे नहीं, सुनाओ।"

सबने कहा, "देख लेना, हम सुनेंगे।"